सहजानंद शास्त्रमाला

मोक्ष – शास्त्र

भाग 23

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

मोक्ष-शास्त्र

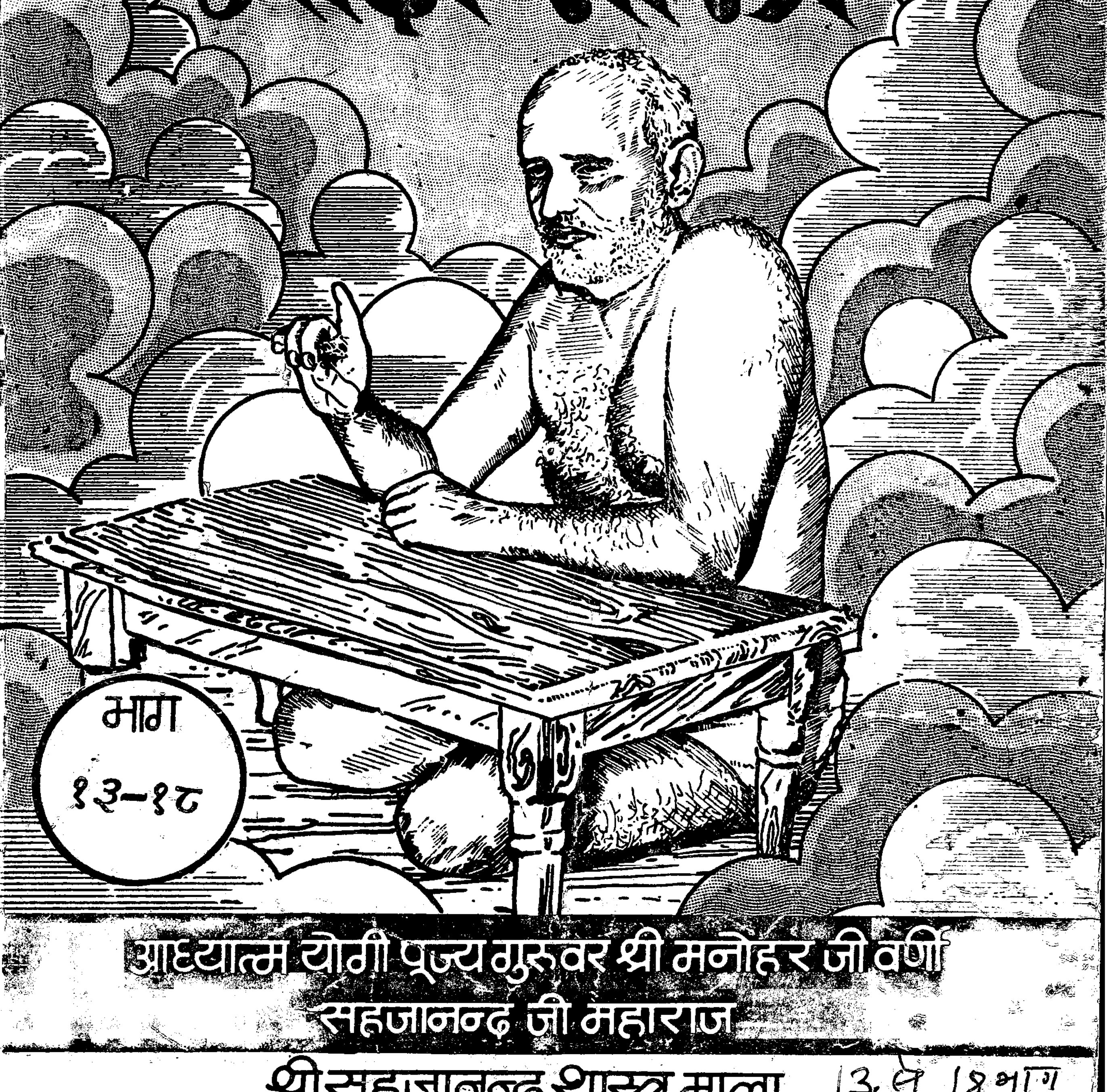

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला 13 से 18 भाग
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर-मेरठ

प्रकाशकीय

धर्मप्रेमी बन्धुओ !

श्रीमदुमास्वामी द्वारा प्रणीत 'मोक्ष शास्त्र' जैन धर्म व जिनशासन का प्राण है। प्रणेता ने छोटे छोटे सूत्रों में गागर में सागर भर दिया है। इस पर आठ दस शताब्दी पूर्व श्रीमद्भट्टाकलंकदेव, श्रीमत्द्विद्यानन्दि स्वामी जसे दिग्गजों ने टीकाएँ की हैं। परन्तु टीकाएँ संस्कृत में होने के कारण जनसामान्य के उपयोग में नहीं आतीं।

यह समाज के परमहित व उपकार की बात है कि पूज्य गुरुवर्य्य श्री सहजानन्द जी महाराज ने इस ग्रन्थ पर प्रवचन किये हैं। धर्म के मर्म को महाराज श्री ने किस प्रकार उजागर किया है, यह तो ग्रन्थ के अध्ययन से ही पता लगता है।

जिज्ञासु बन्धुओं से निवेदन है कि इस प्रवचन में संजोये रत्नों का लाभ उठायें जिससे मोक्ष मार्ग में प्रगति हो और सत्य सहज आनन्द प्राप्त हो।

मंगलाकांक्षी
मंत्री
सहजानन्द शास्त्रमाला
मेरठ

ॐ

मोक्ष शास्त्र प्रवचन

तेईसवां भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाबाह्यं तपः ॥ ६-१९ ॥

संवर व निर्जरा के हेतुभूत तपों में प्रथम अनशन तप का प्रतिपादन—बहिरङ्ग तप ६ प्रकार के हैं—(१) अनशन, (२) अवमोदर्य, (३) वृत्तिपरसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्तशय्यासन और (६) कायक्लेश। अनशन—दो प्रकार से होता है—(१) अवधिसहित और अवधिरहित। एक दिन बाद भोजन करना याने एक दिन उपवास, अनेक दिन उपवास, नियत काल लेकर उपवास करना यह अवधिरहित अनशन है। अनशन करने वाले साधुजन किसी फल की अपेक्षा किये बिना ही करते हैं। मंत्रसाधना के लिए अनशन नहीं होता। भले ही मंत्र साधना हो और अनशन भी हो, पर मन्त्रसाधना के उद्देश्य से अनशन नहीं किया जाता। अथवा कोई लौकिकफल प्राप्त करना हो, उसके लिए अनशन नहीं किया जाता। अनशन किया जाता है संयम की प्रसिद्धि के लिए। आरम्भ न हो थोड़ा भी, आय भी न करनी पड़े, पकड़े भी न हों, ऐसे अन्तरङ्ग बहिरङ्ग संयम की सिद्धि के लिये अनशन है। राग के विनाश के लिए अनशन होता है। एक तो भोजन सम्बन्धी राग नहीं रहता और अनशन में अन्य प्रकार के राग भी नहीं रहते। तो यों राग के विनाश के लिए अनशन होता है। अनशन कर्म विनाश के लिए होता है। अष्टकर्म ही इस जीव के दुःख के निमित्त कारण हैं, और भावकर्म जो रागादिक भाव उतपन्न होता है वह साक्षात स्वरूप का घात करने वाला है इसलिये भावकर्म और द्रव्यकर्म का विनाश हो, इसके लिये साधुजन अनशन करते हैं। ध्यान की शुद्धि के लिये अनशन है। जैसे कि प्रायः लोगों को अनुभव है कि भरपेट भोजन किये जाने की हालत में ध्यान में चित्त नहीं रहता तो जब अभिप्राय पूर्वक अनशन किया गया हो तो उस समय में ध्यान की सिद्धि सुगम है। आगमबोध के लिये भी अनशन किया जाता है। स्वाध्याय में मेरा अधिक समय व्यतीत हो और आगम में कहे हुए तत्त्व का अनुभव बने इसके लिए अनशन की सार्थकता है।

अवमोदर्य तप—वृत्ति के लिए पर्याप्त में से चौथाई या ३-४ ग्रास कम खाना अवमोदर्य है। इसका दूसरा नाम ऊनोदर है। ऊन मायने कम, उदर मायने पेट। जितनी भूख हो, जितना कम खाया जा सकता हो उससे कम खाना ऊनोदर है। ऊनोदर तप करने से संयम की जागरूकता होती है। प्राणिपीड़ापरिहार की प्रवृत्ति न हो, अन्तस्तत्त्व की दृष्टि के लिये उत्साह बना रहता है सो संयम

सही बना रहे इसके लिए मुनिजन ऊनोदर तप करते हैं। दोषों की शुद्धि के लिये अवमोदर्य तप है। ऊनोदर तप से आत्मा में सावधानी होती है। रागादिक दोषों का प्रणयन होता है और वास्तविक आत्मीय शान्ति का उद्‌भव होता है। अवमोदर्य तप संतोष के लिए किया जाता है, अथवा अवमोदर्य करने से संतोष की प्राप्ति होती है। इन तपश्चरणों में साधुजन अपना परीक्षण भी करते जाते हैं कि हमको कितना धैर्य है, कितना अन्तस्तत्त्व की दृष्टि मिली है, यह भी उनका निरीक्षण होता रहता है। ऊनोदर तप से स्वाध्याय सम्बन्धी सुख भी प्राप्त होता है। वास्तव में आनन्द ज्ञान से ही प्रकट होता है। इन्द्रिय के विषयों की प्रवृत्ति से होने वाला सुख तो दुःख रूप ही है। वास्तविक आनन्द तो ज्ञान से होता है और ज्ञान का साधन है शास्त्रस्वाध्याय। सो ऊनोदर तप करने वाले को शास्त्रस्वाध्याय का भी सुख प्राप्त होता है। क्योंकि उस स्थिति से स्वाध्याय में मन विशेष लगता है।

वृत्तिपरसंख्यान तप—आशा की निवृत्ति के लिये भिक्षा चर्या सम्बन्धी साधुजन एक, दो या तीन घर का नियम कर लेते हैं अथवा अन्य प्रकार के भी नियम होते हैं, उन नियमों के अनुसार आहार लेने का संकल्प होता है, उसमें आशा तृष्णा नहीं रहती है। जब साधुजन इस संदेह में हों कि आज मुझे आहार को उठना चाहिये या नहीं तब वे वृत्तिपरसंख्यान तप कर लेते हैं और वहाँ आहार का लाभ हो तो, न हो तो दोनों में समान बुद्धि रहती है। अपने तपश्चरण की सफलता की परीक्षा के लिये भी वृत्तिपरसंख्यान नाम का तप होता है। वृत्तिपरसंख्यान में अनेक प्रकार के नियम होते हैं। पुराणों में लिखा है कि एक बार किसी साधु ने यह आखिड़ी ले लिया कि मुझे यदि ऐसा बैल सामने से आता हुआ दिख जाय कि जिसकी सींग में गुड़ की भेली चुभी हो, तो मैं आहार लूँगा, नहीं तो न लूँगा। अब कौन यह बात जाने, कौन क्या करे? आखिर उनको बहुत दिन बाद ऐसा योग मिल ही गया। जिस समय वह चर्या को निकले उसी समय क्या घटना घटी कि किसी बैल ने एक गुड़ वाले की दुकान में रखी हुई गुड़ की एक भेली मुख में भर लिया, दुकानदार ने उसे भगाया, उसी प्रसंग में गुड़ की एक भेली बैल के सींग में चुभ गयी, यह दृश्य देख कर उस मुनि ने आहार ले लिया। तो ये अनेक प्रकार के कठिन नियम उस स्थिति में लिए जाते जब कि मुनि समझे कि मुझमें ऐसा ज्ञानसामर्थ्य है कि नहीं कि आहार न मिले तो उसमें हमको और भी प्रसन्नता रह सकती है। तो इस प्रकार अनेक प्रकार के भिक्षा के समय नियम कर लेना वृत्तिपरसंख्यान है।

रसपरित्याग तप—नमक, दूध, दही, घी, गुड़, तेल आदिक रसों में से एक-दो या सभी का त्याग करना रसपरित्याग है। यह रस परित्याग इन्द्रिय विजय की वृद्धि के लिये किया जाता है। जो इन्द्रिय के विषय हैं उनके आधीन न हो जाऊँ इसके लिए रस परित्याग होता है, अथवा आत्मा का जो तेज है ज्ञानतेज उसकी वृद्धि के लिये रसपरित्याग है। विशेष रसों का उपयोग करना स्वास्थ्य के लिये भी अहितकर है। सो रसपरित्याग में स्वाध्याय लाभ और शरीर के तेज की वृद्धि भी हो सकती है। संयम में बाधाएं न आएं इसके लिये रसपरित्याग किया जाता है। इन्द्रिय संयम—संयम का भेद है ही। इन्द्रिय के विषय में राग न होना, इन्द्रिय के विषय का त्याग करना इन्द्रिय सयम है। तो संयम में कोई बाधा न आये इसके लिये रसों का परित्याग होता है। यद्यपि रस शब्द गुणवाची है। रस कोई अलग सत् नहीं है कि जिसका त्याग हो सके, गुण और पर्याय अलग वस्तु नहीं, फिर उसके त्याग की बात ही क्यों कहना, ऐसी कोई जिज्ञासा हो सकती है। उत्तर इसका यह है कि जहाँ यह कहा जाय कि रस का त्याग है उसका अर्थ है कि रस वाले पदार्थ का त्याग। जैसे कोई कहे कि शुक्ल

कपड़ा तो सफेद तो गुण है। वहाँ अर्थ यह होता है कि सफेद गुण वाला कपड़ा । गुणी को छोड़कर गुण अलग नहीं रहा करते। तो जब भी गुणों की बात कही जाय तो वहाँ गुणवान का अर्थ लेना चाहिये। और पदार्थ के त्याग से ही गुणों का त्याग होता है। रसीले पदार्थ का त्याग किया तब ही तो रस का त्याग बना। अब एक जिज्ञासा यह होती कि जो भी पुद्‌गल होंगे वे रस वाले तो होंगे ही। तो अगर रस का त्याग किया तो सारे पुद्‌गल का त्याग हो गया। फिर वहाँ कुछ खाना ही न चाहिये। सो उसके सम्बन्ध में यह बात है कि जब यह कहा जाय कि रस का त्याग है तो उसका अर्थ यह होता है कि जिसमें स्वादिष्ट उत्तम रस हों उस पदार्थ का त्याग है।

अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान व रसपरित्याग के स्वरूपों का अन्तर—यहाँ शंकाकार कहता है कि अब तक ३ तपों का निर्देश किया गया—अनशन, अवमोदर्य और रसपरित्याग। इनमें ही वृत्ति-परसंख्यान शब्द. आ जायेगा, क्योंकि सामान्य भिक्षावृत्ति में नियम तो होते ही हैं। तो इसका अलग निर्देश क्यों किया ? या वृत्तिपरसंख्यान में जब हर एक प्रकार के नियम लिए जाते हैं तो उक्त तीन तपों का ग्रहण हो ही जायेगा। वे भी नियम में आ गये, फिर उनका अलग उपदेश क्यों किया गया ? यदि कोई ऐसा समाधान दे कि वृत्तिपरिसंख्यान का भेद मान लो उक्त तीन तपों को, फिर इनका पृथक निर्देश किया गया तो यदि भेद मानकर पृथक निर्देश किया जाय तब फिर गिनती में कोई व्य-वस्था नहीं रह सकती कि बहिरङ्ग तप ६ हैं, यों तो किसी भी तप में कितने ही भेद बनाये जा सकते। अब उक्त शंका का समाधान करते हैं कि भिक्षा के लिये जो साधु गया है वह ऐसा नियम करता है कि इतने घरों तक या इतने क्षेत्र तक काय चेष्टा करूंगा। वहाँ आहार मिल सका तो ले लूँगा। इससे अधिक चेष्टा न करूंगा। अथवा कभी शक्ति अनुसार अन्य भी नियम ले लेते हैं। तो ऐसी काय चेष्टा का नियमवृत्तिपरसंख्यान है। पर अनशन में भोजन की निवृत्ति है। अवमोदर्य में भोजन की मात्रा की निवृत्ति है और रस परित्याग में भोजन की आंशिक निवृत्ति है। अमुक रस न लूँगा। तो तीनों का जुदा-जुदा लक्ष्य है इस कारण इन तीनों में भेद है और रसपरित्याग भी जुदा तप है और वृत्तिपरसंख्यान भी जुदा तप है।

विविक्तशय्यासन तप :—विविक्त कहते हैं एकान्त स्थान को, वहाँ सोना और बैठना यह विविक्ताशय्यासन तप है। विविक्तशय्यासन तप के कारण अनेक बाधाओं का निवारण हो जाता है। बाधायें आती हैं समागम में। किसी का समागम होने पर मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करना पड़ता है और ये ही सब बाधायें हैं। किस समय कैसा कषायभाव जगे, कैसी भावना बने। उससे अनेक बाधायें आ सकती हैं। पर जो एकांत स्थान में सोता है, बैठता है, और रहता है उसको कहाँ से बाधायें आयेंगी ? वह तो एक अकेला अपने भगवान परमात्मा के साथ रह रहा है। विविक्त-शय्यासन तप से ब्रह्मचर्य की सिद्धि होती है। क्योंकि कोई दिखता नहीं अतएव कोई विकार के आने का प्रसंग नहीं होता। विविक्तशय्यासन तप से स्वाध्याय की भली प्रकार सिद्धि होती है। अकेले ही बैठे हैं, किसी से वार्तालाप हो नहीं रहा है तो यह अपने स्वाध्याय में, ज्ञानसाधना में बाधा रहित उपयोग लगाये रहेगा। इस प्रकार आत्मध्यान की सिद्धि में इस विविक्तशय्यासन तप का महान सहयोग है। एक स्वयं ही बैठा है मुनि सो अपने अन्तः प्रकाशमान परमात्मतत्व से उसकी भेंट होती रहती है। सो विविक्तशय्यासन मुनिजनों का महान तप है।

कायक्लेशतप—अनेक प्रकार के तपश्चरणों के कारण और ऐसी ही चर्या के कारण शरीर

का खेद होना कायक्लेश तप है। ये मुनिजन अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करते हैं—जैसे रात्रि में खड़े-खड़े ध्यान करना, मौन रहना, गर्मी में खुली जगह किसी पर्वत आदिक पर ध्यान करना, वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे खड़े होकर ध्यान करना, गिरि, गुफा आदिक में निवास करना, इन सब चर्याओं से शरीर परखेद होना प्राकृतिक बात है। तो उस शरीर परखेद को वे खेद नहीं मानते और उस ही में प्रसन्न रहकर सहज परमात्मतत्व की दृष्टि में संतुष्ट रहना कायक्लेश तप है। कायक्लेश तप के कारण ऐसी सहनशक्ति बढ़ जाती है कि अचानक कोई दुःख आ जाए तो उससे उनको व्याकुलता नहीं होती। और कायक्लेश के अभ्यासी मुनि को विषय सुखों में आसक्ति नहीं होती। यदि कोई सुखिया जीवन व्यतीत करने वाले के सामने कोई संघर्ष की बात आ जाए तो फिर वह घबड़ा जायेगा, उसका चित्त समाधान रूप न रहेगा और वह कष्ट पायेगा, पर कायक्लेश तप का अभ्यासी प्रत्येक संघर्ष के समय धीर ही रहता है। तो कायक्लेश तप परीषह की जाति का नहीं है। क्योंकि परीषह तो जब चाहे आ जाते हैं, पर कायक्लेश तो जान-बूझकर बुद्धि पूर्वक किए जाते हैं। कायक्लेश तप में भी अन्य तपों की भांति कोई लौकिक फल की वाञ्छा न होनी चाहिये। ये सभी तप सम्यक् रूप हैं। इनमें लौकिक फल की निरपेक्षता रहती है। इस प्रकार ६ तपों का वर्णन हुआ।

सूत्रोक्त छहं तपों की बाह्यतप संज्ञा होने का कारण व बाह्य तपों का कर्म निर्जरा में सहयोग—अब इन तपों में यह जिज्ञासा होती है कि इन छहों को बाह्य तप क्यों कहा गया है? उसके अनेक कारण हैं। बाहर जो भोजन आदिक हैं उनकी अपेक्षा से ये तप बने हैं—भोजन छोड़ना, भोजन कम करना, रसों का छोड़ना या अमुक घर अमुक पदार्थ का नियम कर लेना, एकान्त कुटी आदिक में रहना, सब बाह्य द्रव्यों की उपेक्षा है, इस कारण ये तप बाह्य तप कहलाते हैं। दूसरी बात—ये ६ प्रकार के तप दूसरे लोगों को भी प्रत्यक्ष मालूम होते हैं। भीतर के परिणाम को कोई क्या जाने, पर इसने अनशन किया है। इसने दो ग्रास ही खाया है। इसने रसों का परित्याग किया है। यह एकान्त स्थान में रहता है, ऐसा दूसरे लोगों को जाहिर रहता है। सो दूसरे लोगों के द्वारा प्रत्यक्षभूत होने से इन्हें बाह्य तप कहते हैं। तीसरी बात इन अनशन आदिक तपों को मुनिजन भी तप सकते हैं और गृहस्थजन भी, इस कारण यह बाह्यपना बताया गया है। ये अनशन आदिक तप कर्म ईंधन को जलाते हैं इसलिये तप कहना सही है अथवा इन तपों में शरीर और इन्द्रिय का ताप होता है, इस ताप के कारण इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना बहुत सुगम हो जाता है। अब अन्तरंग तप के भेद बतलाते हैं।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ ९-२० ॥

अन्तरङ्ग छह तपों का निर्देश—ये तप उत्तर हैं अर्थात अन्तरङ्ग तप हैं अथवा उत्तर हैं मायने उत्तम हैं। ऐसे साधुजनों के द्वारा जिनका स्पर्श नहीं होता ये ऐसे अन्तरङ्ग तप हैं। इसलिए इनको उत्तर कहा गया है। अथवा ये अन्तरङ्ग तप क्यों हैं कि जिन तपों का नाम लिया है प्रायश्चित आदिक वे सब अन्तरंग व्यापार के आलम्बन से होते हैं। इनका भाव से सीधा सम्बन्ध है इसलिए इनको आभ्यंतर तप कहते हैं—तीसरी बात यह है कि अन्तरंग तप किसी द्रव्य की अपेक्षा करके नहीं होते ये अन्तरंग भाव से होते हैं, इस कारण इन्हें अन्तरङ्ग तप कहा गया है। ये अन्तरङ्ग तप ६ प्रकार के हैं—(१) प्रायश्चित, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग और, (६) ध्यान। इन ६ तपों के अनेक प्रकार के भेद हैं, जिन भेदों को आगे के सूत्रों में कहा जायेगा और

जिन भेदों के वर्णन से इन तपों का विशेष बोध होगा फिर भी संक्षेप रूप से इन छहों का लक्षण कहते हैं। प्रायश्चित का अर्थ है दोषों की शुद्धि। गुरु से विनय करके, गुरु से सुनकर गुरु के द्वारा दिए गए दण्ड को झेलकर जो अन्तरंग में स्वच्छता, शुद्धता जगती है, उसे प्रायश्चित तप कहते हैं। विनयतप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र का विनय अर्थात इन भावों को हितकारी मानना और रत्नत्रय के धारियों का विनय करना विनय नाम का तप है। तीसरा आभ्यंतर तप है वैयावृत्य। वैयावृत्य का जो भाव है उसे वैयावृत्य कहते हैं अर्थात निवृत्ति का, रिटायर्ड का जो आत्म कल्याण के लिये भाव जगता है और इन गुणों के प्रति आस्था बनती है, गुणवानों के प्रति विनय जगती है वह विनय नाम का तप है, जिनकी सेवा होना आवश्यक है: अथवा जो आचार्यगत गुरुजन हैं उनकी सेवा करना वैयावृत्य नाम का तप है। स्वाध्याय जिसमें अपने आत्मा का अभ्यास बने उस विधि से शास्त्रों का स्वाध्याय करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय से ज्ञान बढ़ता है और उस ज्ञान के बढ़ने पर अनेक लोग उस मार्ग से चलित हो जाते हैं ज्ञान के घमण्ड के कारण पर वह वैयावृत्य तप नहीं कहलाता। जहां केवल आत्महित का उद्देश्य है, इसके लिए जहां स्वाध्याय है वह स्वाध्याय तप कहलाता है। व्युत्सर्गतप—शरीरादिक द्रव्यों से ममत्व त्याग कर देना, शरीर को ख्याल में ही न लेना वह व्युत्सर्ग तप है। और ध्यान नामक तप—ध्यान के अनेक भेद कहे जायेंगे। तो शुभ ध्यान में, शुद्ध ध्यान में अपने उपयोग को टिकाये रहना यह ध्यान तप नाम का तप है। इस प्रकार ये ६ अन्तरंग तप हैं, जिनके कारण कर्मों की निर्जरा होती है।

प्रायश्चित आदि तपों की अन्तरङ्ग तपरूपता का कारण—प्रायश्चित आदिक तप अन्तरङ्ग तप क्यों कहलाते हैं, इसका कारण है यह कि अन्य मतावलम्बियों द्वारा इसका अभ्यास नहीं होता। जैन शासन में ही इन तपों की विधि व्यवस्था है। तथा इन्हें अन्य जन बोला भी नहीं करते, इनका पार नहीं पाया जाता। जितने भी अन्तरंग में गहरे जायें उतने ही यहाँ आत्म गुणों के विकास रत्न मिलते हैं। ये तप बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं करते। केवल भाव से इनका सम्बन्ध है। भले ही शास्त्र हैं, गुरुजन हैं इनका संग समागम होता है, किन्तु प्रयोग भीतरी ही होता है। ये सब मन के व्यापार से चलते हैं, इस कारण इन तपों को अन्तरंग तप कहते हैं। जैसे प्रायश्चित किया तो अपने आत्मा की शुद्धि ही तो हुई, भीतर निर्मल परिणाम बना, विनयभाव किया तो गुणों में जब तक अनुराग न हो तब तक विनय नहीं आ सकता सो यह भीतरी ही एक गुण विकास ही तो हुआ। किसी धर्मात्मा जीव की सेवा वैयावृत्य तब तक नहीं हो सकती जब तक आत्मा के गुणों का वात्सल्य न हो। तो वैयावृत्य से भी आत्मा का विकास ही तो पाया। स्वाध्याय तो प्रकट स्व का अध्ययन है। यह तो अन्तरंग से ही सम्बन्ध रखता है। जहाँ सर्व पदार्थों की ममता छोड़ा, शरीर से भी ममत्व छोड़ा तो वहाँ निज अन्तस्तत्त्व में उपयोग और अभिमुखता बनती है। तो अन्तरग से ही तो सम्बन्ध रहा। इसी प्रकार ध्यान में भी अपने आपके अन्तः स्वरूप से ही सम्बन्ध रहता है। तो चूँकि इनका अपने आत्मा से ही सम्बन्ध है, बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं। अन्य जनों से इनका पालन नहीं हो पाता। इनका पार पाना कठिन है, इस कारण से इन तपों को अन्तरंग तप कहा है। अब अन्तरंग तपों के कितने भेद हैं? यह बात सूत्र में कहते हैं।

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राक्ध्यानात् ॥ ६-२१ ॥

प्रायश्चित से व्युत्सर्ग तप तक के पांच अन्तरंग तपों की भेद संख्या का निर्देश—ध्यान से

पहले अर्थात व्युत्सर्ग नाम के तप तक क्रम से ६. ४, १०, ५ और २ भेद हैं। प्रायश्चित के ६ भेद, जिनका वर्णन आगे सूत्र में आयेगा। विनय के ४ भेद हैं, वैयावृत्य के १० भेद हैं, स्वाध्याय के ५ भेद हैं और व्युत्सर्ग के दो भेद हैं, इन सभी भेदों का वर्णन आगे के सूत्रों में आयेगा। इस सूत्र में जो प्रथम पद है सो उसमें सख्या पद के साथ भेदों का समास किया गया है। और वह बहुव्रीहि समास है, जिसका अर्थ है ६, ४, १०, ५ और २ भेद हैं जिसके ऐसा वह तप है। इन संख्याओं में किसी संख्या का अक्षर कम है, किसी का अधिक है तो यहाँ यह शंका न करना कि पहले यह कहना चाहिये। बाद में यह कहना चाहिए। यहाँ तो पूर्व सूत्र में कहे गए आभ्यंतर तपों के क्रम से भेद बताये जा रहे हैं इसलिये क्रम से ही इनकी संख्या दी गई है। यहाँ ध्यान को छोड़ दिया गया है, उसके भेद नहीं बताये गये हैं, क्योंकि ध्यान का प्रकरण बड़ा है और उसके भेद और भेद के प्रभेद हैं और बहुत ही उपयोगी प्रकरण हैं इस कारण वह अगले पूरे प्रसंग में ही आया ऐसा ख्याल करके यहाँ ध्यान को छोड़ दिया है। ध्यान के अतिरिक्त जो शेष ५ अन्तरंग तप हैं उन अन्तरंग तपों के भेद का इसमें वर्णन है। अब अन्तरंग तप का जो प्रथम भेद है, जिसके कि ६ भेद कहे गये हैं उस प्रायश्चित नामक तप के भेद का निर्देश करते हैं।

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ ६-२२ ॥

प्रायश्चित का फल व प्रायश्चित के प्रयोजन—प्रायश्चित नाम का तप ६ प्रकार का है। प्रायश्चित शब्द के अर्थ क्या हैं, उनमें पहला अर्थ तो यह है कि प्राय: मायने साधु लोग उनका जिस कर्म में चित्त हो उसे कहते हैं प्रायश्चित। अथवा दूसरा अर्थ है प्रायः मायने अपराध और चित्त मायने शुद्धि। अपराध की शुद्धि करना प्रायश्चित है। प्रायश्चित का प्रयोजन क्या है? तो इसका पहला प्रयोजन है प्रमाद के दोष का निराकरण, याने विशेष कषाय न रहे, प्रमाद न रहे अथवा प्रमाद नाम का दोष लगा हो, उसका निराकरण हो जाए, इसके लिए प्रायश्चित समर्थ है। दूसरा प्रयोजन है परिणामों की निर्मलता। यह मनुष्य लौकिक गल्तियों का पुञ्ज है। जब तक उत्तम साधना न हो तब तक इसमें दोष होते ही रहते हैं। और दोष के होने से परिणामों में मलिनता होती है तो प्रायश्चित के कर लेने से परिणामों में ऐसा प्रसाद उत्पन्न होता है कि मानो अब मैं यथार्थ निर्दोष हूँ। प्रायश्चित करने वाले साधु आचार्य आदिक से जिनसे प्रायश्चित लेते हैं उनके वचनों पर पूर्ण श्रद्धा होती है। जो हुक्म हो उसका पालन कर लिया तो वहां कोई भी दोष न ठहरेगा। प्रायश्चित के बाद अपने को निर्दोष अनुभव किया जाता है। प्रायश्चित का तीसरा प्रयोजन है निशल्यता। कोई दोष बना हो और उसका प्रतिकार न करे तो उसके चित्त में बराबर शल्य बना रहता है। जहाँ विधि पूर्वक आचार्य आदिक से निवेदन कर जो प्रायश्चित ग्रहण किया है उससे उनका शल्य समाप्त हो जाता है। प्रायश्चित का चौथा प्रयोजन है अव्यवस्था का निराकरण। यदि प्रायश्चित की पद्धति न हो तो कोई व्यवस्था ही न रह सकेगी। कोई कुछ भी करे, कैसा ही रहे उन दोनों का कोई चित्त में तो सब अव्यवस्था बन जाएगी। फिर कोई तीर्थ पद्धति ही नहीं रह सकती, क्योंकि दोष तो सबसे होते ही हैं और दोषों का निराकरण करने के लिये प्रायश्चित का विधान न हो तब तो शासन में कोई व्यवस्था नहीं रह सकती है प्रायश्चित का ५ वाँ प्रयोजन है मर्यादा का बनाये रहना। यदि मर्यादा का भंग कर दिया गया तब प्रगति नहीं हो सकती। जैसे घर में रहने वाले पुरुष यदि मर्यादा का भंग कर दें तो वहाँ ही व्यवस्था नहीं बनती। और सभी स्वच्छंद हो जायें, सभी दुःखी रहेंगे। तो मर्यादा का भग

न हो सके यह एक बहुत बड़ा काम है, इसकी शुद्धि है, प्रायश्चित से। प्रायश्चित का छठा प्रयोजन है संयम की दृढ़ता होना दोष होने पर यदि प्रायश्चित न हो तो होगा क्या कि वह ढीला पड़ता चला जाएगा और वह अनाचार तक पहुँच जाएगा। तो नियम में कोई दोष आये और उसका प्रतिकार न बने तो संयम में दृढ़ता की बात तो दूर रही उसको तो असंयम में पहुँचने की नौबत आ जाती है। प्रायश्चित का ७वाँ प्रयोजन है आराधना। अपने अनादि अनन्त सामान्य कारण समयसार की आराधना बने, यह बात बनती है जब जबकि चित्त में किसी प्रकार की दुविधा नहीं रहती। संयम व्रत लेकर उसमें शिथिलता करे, दोष लगाये और उसका प्रायश्चित न ले तो उसके चित्त में दुविधा रहेगी, उसमें वह पात्रता न आएगी जिससे कि यह समयसार की आराधना कर सके। इसी प्रकार अनेक प्रयोजन हैं प्रायश्चित के, जिन प्रयोजनों की सिद्धि होने पर साधु मोक्ष मार्ग में आगे बढ़ सकता है।

आलोचना नामक प्रायश्चित तप करने की सामान्य विधि—अब इसके ९ भेद बतलाये जा रहे हैं। प्रायश्चित का प्रथम भेद है आलोचना। एकान्त में बैठे हुए प्रसन्न मन वाले गुरु से शिष्य विनयसहित अपना निवेदन करता हैं और वहाँ १० दोषों से रहित अपनी आलोचना करता है, एकान्त में ही आलोचन युक्त बताया गया है क्योंकि बहुजनों के बीच आलोचना करने वाला साधु निशंक आलोचना न कर सकेगा। बैठे हुये गुरु से ही आलोचना की जानी चाहिये। खड़े हुये अथवा चलते हुए गुरुओं से आलोचना जैसा एक विशिष्ट तप नहीं किया जाता है। जब गुरु प्रसन्न चित्त से हों, किसी शिष्य पर दण्डादिक व्यवस्था न कर रहे हों, क्रोध न कर रहे हों, प्रसन्न चित्त में हों, ऐसी स्थिति वाले गुरु से आलोचना की जाती है। यह शिष्य भी आलोचना का पात्र तब ही बनता है जब उसको देश और काल का परिचय हो। तो बहुत ही विनय सहित अपने प्रमाद का निवेदन करना कि गुरुदेव मुझसे यहाँ यह दोष बना है। सो वह निवेदन १० दोषों से रहित होना चाहिये तब ही वह सत्य आलोचना है और आलोचना मात्र से कितने ही अपराध दूर हो जाया करते हैं। कुछ अपराध ऐसे होते हैं कि आलोचना भी करे और और प्रतिक्रमण भी करे तो वे १० दोष कौन से हैं जिनको टालकर गुरुओं से आलोचना करना चाहिए।

आलोचना में वर्जनीय दस दोषों का वर्णन—(१) जिन गुरु महाराज से आलोचना करना है उनको पहले कोई पुस्तक देना इसलिए कि उपकरण देने पर ये गुरु महाराज हमको प्रायश्चित हल्का देंगे, ऐसा चिन्तवन करके उपकरण आदिक देना यह आलोचना का प्रथम दोष है। (२) गुरुजनों से ऐसे वचनों से अथवा भावों से दोष निवेदन करना कि हे गुरुदेव मैं प्रकृति से दुर्बल हूँ, रोगी हूँ, उपवास आदिक कठिन तप करने में असमर्थ हूँ, यदि आप कोई लघु प्रायश्चित दें तो मैं दोष का निवेदन करूँ, इस प्रकार का भाव रखना और वचन बोलना यह आलोचन का दूसरा दोष है। (३) तीसरा है मायाचार दोष। जो दोष दूसरों ने न देखा हो उस दोष को तो छिपा लेना और जो दोष दूसरों को मालूम पड़ गया हो वह दोष गुरु से बताना यह मायाचार नाम का दोष है। (४) आलोचना का चौथा दोष है स्थूल दोष प्रतिपादन। आलस्य से या प्रमाद से अथवा जान बूझकर सूक्ष्म अपराधों का परिचय कराने में उत्सुकता नहीं है जिस शिष्य के और वह स्थूल दोषों को ही बताये। तीसरे दोष में तो यह बताया था कि दूसरों ने जिस दोष को न देखा हो उसे छुपा लेना और जिस दोष को दूसरों ने देख लिया हो उसका निवेदन करना, और इस दोष में यह बात कही गई कि

सूक्ष्म दोष भी बताना और स्थूल (मोटे) दोष भी बताना, इसमें दुःख नहीं, दुःख का कोई सम्बन्ध नहीं है। (५) पांचवा दोष है बड़े दोष को तो छिपा लेना, क्योंकि उसका कठिन प्रायश्चित होगा, ऐसा भय लगा है और छोटे दोष को कहना यह ५वाँ दोष है। (६) आलोचना का छठा दोष है गुरु-प्रच्छना—गुरु से इस प्रकार कहकर प्रायश्चित जानना कि महाराज यदि ऐसा दोष हो जाए तो उसका क्या प्रायश्चित होगा, ऐसी तरकीब से प्रायश्चित जान लिया और फिर उसको गुरु सेवा करते हुये चापलूसी से दोष कह देना यह छठवां दोष है। (७) सातवें दोष का नाम है पूर्व दोष कथन—पाक्षिक, चातुर्मासिक या वार्षिक प्रतिक्रमण के समय जहाँ पहले से मुनि विराजे हैं और सभी आलोचना कर रहे हैं और वहां शब्दों का कोलाहल भी है उसी बीच अपने भी दोष कह डालना यह ७वाँ दोष है। (८) आलोचना का ८वाँ दोष है अन्यसाधुपरि प्रश्न—गुरु के द्वारा दिया गया यह प्रायश्चित युक्त है या नहीं, ऐसा आगमवेद्य है या नहीं यों अन्य साधुओं से पूछना यह आठवां दोष है। शिष्य ने गुरु से निवेदन किया, गुरु ने प्रायश्चित दिया, अब अन्य साधुओं से पूछे तो इसके मायने है कि गुरु में आस्था श्रद्धा नहीं है और ऐसा दोष करके प्रायश्चित भी करे तो भी दोषशुद्धि नहीं होती है। (९) नववाँ दोष है कि जिस किसी उद्देश्य से अपने ही मुनियों में से जो मुनि शिथिलाचारी है उसी से ही दोष निवेदन कर लिया यह सोचकर कि यह भी ऐसे ही हैं जैसे कि हम दोष किया करते हैं तो एक जापता पूरा हो जाएगा, दोष कह डालें तो वह आलोचना का दोष है। (१०) १०वाँ दोष है यह कि इसका जो अपराध था किसी मुनि का उसी के समान मेरा भी दोष है, सो जो इनको प्रायश्चित दिया गया वही प्रायश्चित मैं कर लूँगा, ऐसा अपने आप ही दोष का निवेदन किये बिना ही प्रायश्चित ले लेना यह १०वाँ दोष है।

आलोचना तप का माहात्म्य—दोषपूर्वक कठोर भी प्रायश्चित ले तो भी निष्फल होता है। दोष का निवेदन तो निष्कपट भाव से बालक की तरह सरलता पूर्वक करना चाहिए और जब दोष हो जाय तो प्रायश्चित लेने के लिए अधिक समय का अन्तर न करना चाहिये। शीघ्र ही उसका प्रायश्चित लेना चाहिए। तो जो साधु अपने मन में दोषको अधिक समय न रखे और सरलतापूर्वक गुरुजनों से दोष निवेदन करे तो उसके यह दोष नहीं लगता, उसके शुद्ध आलोचना होती है। गुरु महाराज जो प्रायश्चित देते हैं उसका पालन करने पर वह साधु निर्दोष हो जाता है। कोई मुनि गुरु से आलोचना करता है तो वह एकान्त में करता है। आचार्य महाराज और आलोचना करने वाला साधु दो ही वहाँ विराजे होते हैं, किन्तु आर्यिका अगर अपना प्रायश्चित लेना चाहे। दोष निवेदन करे तो वह दो व्यक्तियों में न होगा। चाहे वह खुले सार्वजनिक स्थान में कहे अन्यथा कम से कम तीन व्यक्ति होना ही चाहिये, क्योंकि वह स्त्री प्रसंग का समय है। आर्यिका केवल एक साधु से ही निवेदन करे एकांत में तो वह जैन शासन में युक्त नहीं बताया। यदि कोई लज्जावश या मेरा अपमान होगा आदिक के कारण कुछ थोड़े बहुत दोषों का निवेदन भी कर ले, यथार्थ न कहे, उनका शोधन न करे तो वह इस तह दुःख का पात्र है जैसे कि अपनी आमदनी और खर्च का हिसाब न रखने वाले कर्जदार दुःखी हुआ करते हैं। कोई साधु बहुत दुर्धर तप करे तिस पर भी दोष होना सम्भव है, सो वह दुर्धर तप करके भी यदि आलोचना नहीं करता, गुरुजनों से अपने दोष निवेदन नहीं करता, उसको इष्ट फल न प्राप्त होगा याने मोक्षमार्ग में प्रगति न हो सकेगी। जैसे कि विवेचना से शरीर में मलशुद्धि किये बिना औषधि कोई खाये तो उसे इष्ट फल नहीं मिलता, जैसे कोई ऐसा तो बीमार है

कि पेट अधिक खराब है और उसको तो उचित यह है कि उसे विवेचना औषधि पहले दी जाए ताकि थोड़े दस्त हों और पेट साफ हो, फिर उसे अन्य औषधि दी जाए तो वह फायदा करेगी ऐसे ही पहले तो आलोचना कर ली जाए और फिर प्रायश्चित ले तो उससे सिद्ध होगी। और यदि कोई साधु आलोचना करके भी गुरु के द्वारा दिये गए प्रायश्चित को नहीं करता तो वहाँ भी इष्ट सिद्धि नहीं है। जैसे कि जो किसान अपनी खेती को नहीं सम्हालता है, उसका निराना, गोड़ना आदि नहीं करता है तो उसको वह महान फल नहीं दे सकती। जो साधु आलोचना सहित चित्त से प्रायश्चित को ग्रहण करे तो वह ऐसा चमक जाता है, उसकी आत्मा ऐसी पवित्र बन जाता है जैसे कि माँजे हुए, साफ किए हुये दर्पण में रूप चमकता है, क्योंकि प्रायश्चित से निशल्यता हो जाती है। उसके जो दोष हुये थे वे पूर्णतया निकल गए, शुद्ध हो गए, अब मैं निर्दोष हूँ ऐसी भावना से वह अपने आपके अन्तः स्वरूप में उपयोग देता है और निर्विकल्प ध्यान कर पाता है।

प्रतिक्रमण व तदुभय नाम के प्रायश्चित—पाप के प्रतिकार को प्रतिक्रमण कहते हैं। कर्मोदय वश प्रमाद होने पर जो दुष्कृत हुआ है उसके प्रति यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो, इस प्रकार से व्यक्त किया हुआ जो प्रतिकार है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। देखिए कोई कर्म तो केवल आलोचना से ही नष्ट हो जाते हैं, कोई कर्म प्रतिक्रमण से दूर होते हैं और कोई कर्म पाप चेष्टा ऐसी होती है कि आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों होने पर शुद्धि को प्राप्त होता है। तो तदुभय नामक तीसरा प्रायश्चित वह है जहाँ आलोचना के प्रतिक्रमण दोनों प्रायश्चित होते हैं। यहाँ शंका होती है कि यह बात तो जरा जचती नहीं कि कोई साधु आलोचना न करे और केवल प्रतिक्रमण कर ले, प्रायश्चित कर ले। और, कहा भी है कि जो साधु आलोचना न करके अर्थात गुरु से अपना दोष प्रकट न करके कितने ही कठिन तप कर ले तो भी वह दोष निवृत्त नहीं होता। और अब यहाँ कहा जा रहा है कि कोई कर्म ऐसे होते हैं कि जिनकी शुद्धि केवल प्रतिक्रमण से हो जाती है तो यह बात तो अयुक्त जच रही है और यह बात मान लेने पर कि आलोचनापूर्वक प्रायश्चित हुआ करता है तो तदुभव नाम का तीसरा प्रायश्चित बताना व्यर्थ है, क्योंकि सभी प्रायश्चित आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से बनते हैं। उतर—बात आमतौर से यही है कि प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही होता है। शिष्य गुरु से अपने दोष निवेदन करे फिर गुरु ने जो बताया है प्रतिक्रमण उसे शिष्य करे, यों प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही होता है। कोई दोष ऐसे होते हैं जो केवल आलोचना करने से ही शुद्ध हो जाते हैं। ये सब अभी बतायेंगे कि कौन से दोष केवल आलोचना से दूर होते हैं, कौन से प्रतिक्रमण आदिक से पर जो यहाँ बताया जा रहा है कि केवल प्रतिक्रमण ही करे उसके दोष की निवृत्ति होती है, तो यह गुरु अथवा आचार्य के लिये ही, क्योंकि शिष्य तो अपने दोष गुरु से निवेदन करेगा और गुरु जो प्रायश्चित देंगे पालेंगे, पर गुरु स्वयं किससे दोष निवेदन करने जायें ? तो केवल प्रतिक्रमण से शुद्ध हों. यह बात गुरु महाराज के लिए है।

विवेक, व्युत्सर्ग, छेद नाम के प्रायश्चितों का निर्देशन—विवेक नामक तप—अन्नपान एक दूसरे में मिल जाए या उपकरण आदिक का संयोग हो जाए तो उसे पृथक् करना विवेक नामक तप कहलाता है। जैसे किसी चीज का त्याग हो जो मांस आदिक दोष वाला नहीं है, सर्व साधारणजनों के काम आता है ऐसी कोई चीज भोजन में मिली हो और वह साधु को लेना नहीं है तो उसे अलग बराबर लेने वाले अन्न को ग्रहण कर लेना यह विवेक कहलाता है, और जैसे ठण्डे उपकरण में कोई

गरम उपकरण का संयोग हुआ हो तो उसे अलग करना यह उपकरणों के संसर्ग का विवेक है, व्युत्सर्ग नामक तप समय का नियम करके कायोत्सर्ग आदिक करना व्युत्सर्ग तप कहलाता है। जैसे मैं रात्रि में तीन घण्टे खड़े ही खड़े ध्यान करूँगा, तो उसने तीन घण्टे को कायोत्सर्ग कर लिया। शरीर से ममत्व का त्याग कर लिया, वैसे तो ममत्व का त्याग रात-दिन है पर काय से राग भी, चेष्टा भी, कोई प्रमाद भी न करना ऐसे व्युत्सर्ग को यहाँ तप कहा गया है। एक तपश्चरण नाम का भी प्रायश्चित होता है, सो तप पहले बताये गये हैं अनशन ऊनोदर आदिक, याने बाह्य तप भी प्रायश्चित के रूप में लिये जाते हैं। मेरा उपवास है या मेरा ऊनोदर है आदिक तप प्रायश्चित रूप में भी होते हैं। छेद नाम का प्रायश्चित—कोई साधु बहुत काल से दीक्षित हो और उससे कोई ऐसा अपराध बन जाये कि जो छेद नामक तप से ही शुद्ध हो सके उसको दिन, महीना आदिक के विभाग से दीक्षा का छेदन कर दिया जाता है। जैसे कोई मुनि तीन वर्ष का दीक्षित है, अब उससे कोई ऐसा अपराध बन जाए कि जिससे उसकी कुछ दीक्षा छेद देनी चाहिए, तो आचार्य वहाँ मानो उसकी ६ माह की दीक्षा अलग कर दें अर्थात आज्ञा कर दें कि इसकी ६ माह की दीक्षा खतम की जाती है तो उसका अर्थ यह हुआ कि अब वह साधु ढाई वर्ष का दीक्षित कहलायेगा, उससे अन्तर कहाँ पड़ता है ? जैसे मानो कोई दूसरा साधु पौने तीन वर्ष का ही दीक्षित हो तो अभी तक तो यह उस तीन वर्ष के दीक्षित को पहले नमस्कार करता था, अब ६ माह की उसकी दीक्षा छेद दी जाने से वह पौने तीन वर्ष के दीक्षित भी नमस्कार करने लगता, क्योंकि अब वह उसकी अपेक्षा छोटा हो गया। तो कितने ही ऐसे अपराध होते हैं कि जिनमें कुछ समय की दीक्षा का छेदकर दिया जाता है।

परिहार एवं उपस्थापना नाम के प्रायश्चितों का निर्देशन—परिहार नाम का प्रायश्चित—कोई और भी कठिन अपराध हो तो पक्ष महीना आदिक काल की अवधि से उस मुनि को संसर्ग से दूर कर देता है और वह दूर-दूर ही रहता है, यह परिहार नाम का प्रायश्चित कहलाता है। इस प्रायश्चित से उसके अपराध की शुद्धि हो जाती है। यद्यपि यह मुनियों को प्रायः रुचिकर न होगा कि हमको साथ से अलग कर दें और हम २० हाथ दूर बैठा या २० हाथ दूर चला करें, संग में न आ सकें, यदि ऐसा कर दिया जाए तो उसके चित्त में बड़ा आघात पहुँचेगा, किन्तु जो ज्ञानी मुनि हैं वह इसमें प्रसन्नता मानता है कि मेरा अपराध इस दण्ड से दूर हो जायेगा और मैं सच्चे मोक्ष मार्ग में प्रगति करूँगा वह इसमें दुःखी नहीं होता, वह प्रसन्न मन से परिहार तप ही क्या, सभी प्रायश्चितों को स्वीकार करता है। उपस्थापना नाम का तप—कोई अत्यन्त ही कठिन अपराध हो जिसका कि शुद्ध करने का कोई उपाय नहीं है तो उसे उपस्थापना प्रायश्चित दिया जाता है। इस प्रायश्चित में महाव्रत मूल से ही भंग कर दिया जाता है और यह कह दिया जाता कि अब तुमको मुनिव्रत नहीं रहा, अब तुम साधारण जनों जैसे हो गए, ऐसा मूल छेद करके फिर उसे दीक्षा दिया यह उपस्थापना नाम का तप है। अब चाहे वह १२ वर्ष का भी दीक्षित हो, पर उसे उपस्थापना प्रायश्चित दिया हो और आज ही पुनः दीक्षा दिया हो तो वह आज दिन का (एक दिन का) दीक्षित कहलायेगा। इस प्रकार ९ तरह के प्रायश्चित होते हैं।

किन किन अपराधों में करणीय प्रायश्चितों का विवेचन—अब कौन सा प्रायश्चित किस-किस अपराध में दिया जाता है उसका थोड़ा दिग्दर्शन कराते हैं। विद्या और ध्यान के साधनों के ग्रहण करने में पूछे बिना, विनय बिना प्रवृत्ति करना ऐसा दोष है कि उसका प्रायश्चित सिर्फ आलोचना

होता है। केवल दोष निवेदन कर दिया इससे ही शुद्ध हो जाता है। जैसे विद्या का साधन शास्त्र है। किसी समय जिसके पढ़ने का वह शास्त्र है, वह मुनि वहां नहीं है और उसके शास्त्र को उठाकर कोई दूसरा मुनि स्वाध्याय करने लगे तो उसके आ जाने पर झट वह निवेदन करने लगे कि माफ करना, मैंने बिना आपके पूछे आपका शास्त्र पढ़ने को उठा लिया, तो लो सिर्फ आलोचना से ही शुद्धि हो गई। जैसे यहाँ भी गृहस्थों से ऐसे कितने ही अपराध बनाते हैं कि जिन्हें केवल बता भर दिया, उसका कोई अधिक दण्ड नहीं लेना पड़ता। मानो किसी ने किसी का पेन उठाकर लिख लिया और उसके आने पर निवेदन कर लिया कि भाई माफ करना, मैंने आपका पेन आपसे बिना पूछे उठा लिया था। तो सिर्फ आलोचना से ही शुद्धि हो गई। ध्यान का साधन जैसे माला, आसन आदि किसी ने बर्त लिया तो उसने अपराध तो किया मगर वह इतना कठिन अपराध नहीं है कि उसे इसके लिये १०-१२ दिन का उपवास लेना पड़े। एक आलोचना भर कर लो बस हो गया। तो यह आलोचना तप कहलाता है। पर शिष्यजन प्राय: अपने गुरूजनों से आलोचना करते हैं कि आज मुझसे यह अपराध हो गया। कुछ कर्त्तव्य ऐसे हैं कि वहाँ प्रतिक्रमण प्रायश्चित लेना होता है। जैसे जिस देश में, जिस समय में जो करने योग्य कर्त्तव्य हैं ऐसे विधानों को धर्म कथा आदिक में लगे रहने के कारण भूल जाए और उसे पुन: करे तो उसका प्रतिक्रमण प्रायश्चित है। प्रतिक्रमण नाम का प्रायश्चित—जहां केवल प्रतिक्रमण ही किया जाता है वह आचार्य या गुरूजनों को ज्यादह मौके मिलते हैं। किसी को उपदेश कर रहे या कोई धर्मकथा में लगे रहे, लो सामायिक न कर सके, देर हो गई, भूल गए तो उस प्रसंग के बाद ध्यान आया—तो मैं पुन: करूंगा, मैं प्रतिक्रमण लूँगा, यह उनका प्रायश्चित है। यदि कोई भक्ति के कारण महापुरुष में कोई दोष लगे या शीघ्रता के कारण भूल जाने से अथवा ज्ञान की कमजोरी से आपत्ति आने पर कोई महाव्रत में दोष लग जाए, कुछ हल्के वचन व्यवहार किया या जल्दी-जल्दी चलना पड़ा। ईर्या समिति में थोड़ा जल्दी आयी, महाव्रत में कोई दोष लगा तो ऐसा दोष लगने पर उसकी (१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) तदुभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग और, (६) तप ये ६ प्रायश्चित हो सकते हैं, कोई साधु अपनी शक्ति को न छिपाकर बड़ी सावधानी और प्रयत्न से दोषों का परिहार कर रहा है, ऐसी सावधानी बर्तते हुये भी किसी कारणवश अप्रासुक पदार्थ माना अचित्त किया हुआ नहीं है वह स्वयं ग्रहण करने में आ जाए या दूसरे को ग्रहण करा दे या जिस चीज का त्याग कर रखा था ऐसी प्रासुक वस्तु का भी विस्मरण हो जाये और विस्मरण होने से ग्रहण में आ गई तो जब उसका स्मरण हो जाए कि ओह यह भूल हुई है तो उस चीज को पहले से त्याग कर देना यह प्रायश्चित है।

कुछ विशेष अपराधों की व्युत्सर्ग प्रायश्चित से शुद्धि—कुछ अपराध ऐसे होते हैं कि जिनमें व्युत्सर्ग प्रायश्चित होता है। जैसे खोंटा स्वप्न आ जाए तो उसका विशेष कायोत्सर्ग करना पड़ता है। कोई यह पूछ सकता है कि इस पर किसका वश है। अगर सोते हुये में कोई खोंटा स्वप्न आ गया तो इसमें उसका क्या अपराध—ऐसा कोई सोच सकता, मगर अपराध उसका यह है कि उसने जगते में, दिन में ऐसा कुछ भाव किया या संस्कार बनाया हल्के गन्दे जिसके आधार पर उसको खोंटा स्वप्न आया है। तो खोंटा स्वप्न आने पर कायोत्सर्ग प्रायश्चित करना पड़ता है। कोई खोंटी चिन्ता आ जाए, बुरा विचार आ जाए तो उसका प्रायश्चित कायोत्सर्ग है। कहीं अचानक किसी भी स्थान पर दस्तादिक हो जाए तो उसका भी कायोत्सर्ग तप है। मलोत्सर्ग किया है और उसके प्रतिष्ठापन

समिति है पर योग्य स्थान पर ही करना चाहिए। किसी जगह बैठे हुये ध्यान कर रहे या अन्य किसी धर्मकार्य में ऐसी जगह मलोत्सर्ग हो जाए तो वह कायोत्सर्ग तप से शुद्ध होता है। ऐसे ही किसी बड़ी महानदी को पार किया अथवा महान अटवी को (जंगल को) पार किया तो नदी पार करने में सूक्ष्म जन्तुओं को बाधा तो सम्भव है, और घने जंगल में तो कीड़े पतिंगे बहुत होते हैं, कितना ही शोधकर चलें फिर भी वहाँ चलने में शीघ्रता करना होता है। भयानक जंगल है, जल्दी चलें, दूसरे कुछ प्रमाद भी सम्भव है, तो ऐसे पाप का प्रायश्चित व्युत्सर्ग है।

अति विशाल दोषों का प्रायश्चित उपस्थापना—अन्तिम प्रायश्चित है उपस्थापना। इसके अन्तर्गत कुछ और प्रकार से भी प्रायश्चित हैं। ये प्रायश्चित महान् अपराध होने पर दिये जाते हैं। जैसे कोई साधु आवश्यक कर्त्तव्यों में बार-बार प्रमाद करे ऐसा अपराध कर ले कि जो बहुत जनों ने देख लिया हो, क्योंकि बहुत जनों के द्वारा देखे गए अपराध को मान लो माफ कर दिया जाए तो उससे तीर्थ प्रवृत्ति खोटी होती है, उसका असर जनता पर बुरा पड़ता है। यदि जनता को यह मालूम पड़ जाए कि इस अपराध का दण्ड भोगना पड़ा है तो उससे तीर्थ प्रवृत्ति नहीं बिगड़ती। कोई पुरुष साधु आचार्य आदिक गुरुओं के विरुद्ध व्यवहार करे तो उसका यह कठिन प्रायश्चित देना होता है। अथवा विरुद्ध दृष्टि हो जाए, सम्यक्त्व की विराधना हो जाए तो ऐसे कठिन अपराध का उपस्थापना प्रायश्चित है, पर एक तो होता है पूर्ण उपस्थापना। महाव्रत को मूल से ही भंग कर दिया जाए, और कुछ इस ही के अन्तर्गत दो प्रकार के प्रायश्चित और होते हैं–(१) अनुपस्थापन और, (२) पारंचिक। अनुपस्थापन तो कहलाता है किसी दूसरे आचार्य से प्रायश्चित छिन जाना। जिस संग में रहता है उस संग में आचार्य से प्रायश्चित लेना और आचार्य यदि दण्ड दें कि इसका प्रायश्चित तुम दूसरे आचार्य से लो, जो कुछ इससे थोड़ा हीन भी हो तो ऐसे छोटे आचार्य के पास जाकर प्रायश्चित ले तो यह तो कठिन दण्ड है। अपने संग में रहने वाले गुरु से दण्ड लेने में उतना अपमान नहीं है जितना कि किसी छोटे आचार्य से प्रायश्चित दिलाया जाये। तो यह उससे कठिन दण्ड है, पारंचिक प्रायश्चित वह कहलाता कि वह अपराधी तीन आचार्यों तक जाता है। एक आचार्य से निवेदन किया, उसने कुछ न दिया प्रायश्चित, दूसरे से निवेदन किया फिर तीसरे से निवेदन किया, ऐसे तीन आचार्यों तक उसके दोष की शुद्धि के लिये भेजा जाए याने ३ संघों को दोष विदित हो जाए फिर प्रायश्चित देना वह पारंचिक है और मूल से ही दीक्षा छेद दी जाए और फिर से ग्रहण करे दीक्षा, चाहे उस संघ वाला आचार्य है या पारंचिक विधि से अन्य आचार्य से दीक्षा ले यह सब उपस्थापना कहलाती है।

आस्था सहित गुरूपदिष्ट प्रायश्चितों से साधु की निर्दोषता का अभ्युदय—उक्त ९ प्रकार के प्रायश्चित दोष के दूर करने के लिए औषधि की तरह ग्रहण करना चाहिये। जैसे रोगी जब रोग से ग्रस्त हो गया तो प्रसन्न होकर वह औषधि खाता है इससे कि मेरा रोग दूर हो जाए और मैं निरोग हो जाऊँगा ऐसे ही जिस मुनि से अपराध बना है उस मुनि को जो दण्ड दिया जाता है वह प्रसन्न मन से औषधि की तरह उस दण्ड को भोगता है। लौकिकजन तो दुःखी होकर दण्ड भोगते हैं पर साधुजन खुश होकर दण्ड भोगते हैं। वे जानते हैं कि इस प्रायश्चित करने से हमारे दोष दूर हो जायेंगे और हम मोक्ष मार्ग में चलने के पूर्ण काबिल हो जायेंगे। सो ये ९ प्रायश्चित देश, काल, शक्ति और संयम आदिक के अविरुद्ध अपराध के अनुसार ग्रहण किये जाते हैं। यद्यपि जीव के परि-

णाम अनगिनते लोक प्रमाण हैं तो अपराध भी उतने ही हो जायेंगे, पर प्रायश्चित तो उतने नहीं हो सकते, क्योंकि प्रायश्चित तो एक पारलौकिक काम है और वे अपराध होना विपाक के अनुसार है, वे एक ओटोमेटिक नहीं हैं, सो अपराध तो होते हैं अनगिनते, पर उन सबका प्रायश्चित इन ६ प्रकारों में गर्भित है। सो व्यवहारनय से उन समस्त अपराधों का वर्गीकरण करके कि यह अपराध इस दर्जे का है। यह अपराध इस दर्जे का है ऐसे ६ प्रकार के प्रायश्चित के दर्जे बनाकर ६ प्रकार से प्रायश्चित देना, ऐसा स्थूल रूप से निर्देश किया है, प्रायश्चित तप लेने वाला शिष्य गुरु महाराज पर पूर्ण श्रद्धा रखता है और उनके द्वारा बताये गये प्रायश्चित को लेता है, पर वह पूरा निर्णय रखता है कि जैसे मानो मैंने वह दोष ही न किया हो, इतनी शुद्धि हो गई हो। यदि कोई संदेहशील शिष्य है, उसे किसी अपराध पर गुरु महाराज ने कोई प्रायश्चित दिया है और वह शिष्य यदि सोचे कि इतने प्रायश्चित से मेरा दोष कैसे शुद्ध हो जायेगा तो वह उसका ठीक-ठीक पात्र नहीं है। शिष्य को क्या सोचना कि मुझे छोटा प्रायश्चित दिया या बड़ा, उसके लिए तो गुरुवचन प्रमाण हैं। जो भी प्रायश्चित दिया वह दोष की निवृत्ति करने में पूर्ण समर्थ है, ऐसी आस्था शिष्यजनों में हुआ करती है। आचार्य महाराज भी देश, काल, शिष्य का स्वास्थ्य, शिष्य की पात्रता, योग्यता देखकर उस अनुरूप प्रायश्चित देते हैं। जैसे मानो कोई शिष्य बड़ा विद्वान् है, संघ का मान्य है, अथवा रुग्ण है आदिक, तो उसे देखकर उस लायक उसको प्रायश्चित दिया जाता है। एक ही तरह का अपराध मानो ५ मुनियों ने किया हो तो यह जरूरी नहीं है कि आचार्य महाराज उन पांचों को एक समान प्रायश्चित दें। होंगे करीब-करीब समान, फिर भी उनकी योग्यता पात्रता को परिस्थिति निरखकर आचार्य प्रायश्चित देते हैं, पर शिष्य के चित्त में पूर्ण निर्णय रहता है कि जो गुरु महाराज ने कह दिया बस वही सत्य है और उसमें मेरे समस्त दोषों की शुद्धि हो ही गई, ऐसी आस्था और विनयपूर्वक शिष्य जन आचार्य का शरण गहते हैं और अपने को निर्दोष चारित्र में प्रवर्ताते हुये मोक्ष मार्ग में चलते हैं।

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ ६-२३ ॥

विनय नामक आभ्यन्तर तप के प्रथम तीन विनय तपों का प्रतिपादन—इस सूत्र में विनय के चार भेदों का वर्णन है। (१) ज्ञानविनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र विनय और (४) उपचार विनय। ज्ञान का बिनय करना ज्ञान विनय है। ज्ञानविनय करने वाला प्रमादरहित अनुरागपूर्वक देश काल की विशुद्धि के अनुसार मोक्ष के प्रयोजन को करता है। सो ज्ञान का ग्रहण करना, अभ्यास करना, स्मरण करना, ध्यान मनन करना, यह सब ज्ञान विनय कहलाता है। ज्ञानविनय से भरा हुआ महापुरुष ज्ञानीजनों का भी विनय करता है। तो ज्ञानियों का विनय करना उपचार विनय में कहा जायगा। यहाँ तो ज्ञानभाव के प्रति विनय की बात कही जा रही है। दर्शनविनय वस्तु का जैसा स्वरूप है उस ही प्रकार से दर्शन करने में निशंक होना और विनयशील होना दर्शनविनय कहलाता है। जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि में आचारांग आदिक से लेकर समस्त द्वादशांग का उपदेश किया है। जिन्हें गणधर देव ने अपने शब्दों में गूँथा है वे शब्द यद्यपि लौकिक नहीं हैं। हैं आगम के ही शब्द और वे ६४ अक्षरों के इकहरे, दुसंयोगी, प्रसंयोगी आदिक रूप से गुथे हुए हैं। तो ऐसा श्रुत महासमुद्र में पदार्थों का जैसा उपदेश दिया गया है उस ही रूप से श्रद्धान करने में निशंक रहना दर्शन विनय है। चारित्रविनय ज्ञान और दर्शन से विशिष्ट पुरुषों के दुर्धर चारित्र का वर्णन सुनकर हर्ष होना उन चारित्रधारियों के प्रति बहुमान आना, अन्तरङ्ग में भक्ति प्रकट करना, प्रणाम करना, मस्तक पर हाथ रखकर,

अंगुली जोड़कर आदर प्रकट करना और भावपूर्वक उस चारित्र का प्रयोग करना यह सब चारित्र विनय है। विनय तप कहलाता है। तप से इच्छानिरोध होता है। तो इस प्रकार के आतमा के गुणों के प्रति जिसका अनुराग है, विनय बना हुआ है वह पुरुष इच्छानिरोध तो कर ही चुका है, उसके किसी भी इन्द्रिय विषय की वहाँ चाह नहीं है। इस कारण इन विनयों में इच्छानिरोध बराबर बना है और यह तप कहलाता है। तो ऐसे आत्मा के गुणों के प्रति बिनय अनुराग होना यह ज्ञानदर्शन चारित्र विषयक बिनय है।

विनय नामक तप के चार भेदों में अन्तिम उपचार विनय का प्रतिपादन—उपचार विनय पूज्य गुरुओं को निरखकर आचार्य आदि को सामने देखकर खड़े हो जाना, उनके पीछे चलना, अंगुली जोड़ना, वन्दना करना यह सब उपचारविनय है। विनयशील पुरुष विद्या के अधिकारी होते हैं। कठोर हृदय में विद्या का प्रवेश नहीं होता। एक कथानक है कि किसी एक राज्य में हीन कुल वाला एक विद्या सिद्ध किये हुए था, वह विद्या यह थी कि अपने औजारों को मंत्रबल से आकाश में ही लटकाये रखना। राजा ने एक बार यह देखा तो उसको इच्छा हुई कि मैं भी यह विद्या सीख लूँ, किसी भी चीज को मन्त्रबल से ऊपर ही लटकाये रखना, खूँटी पर टाँगने की भी जरूरत नहीं, तो वह राजा उस पुरुष से बोला— भाई मुझे भी आप अपनी यह विद्या सिखा दो। तो वह बोला, हाँ महाराज जरूर सिखा देंगे अब वहाँ वह राजा सिंहासन पर बैठकर विद्या सीखता था और वह पुरुष नीचे खड़ा होकर सिखाता था। इस विद्या को हुए कई दिन निकल गए पर राजा को वह विद्या न आई। एक दिन देख लिया उस राजा के मन्त्री ने, पूछा—महाराज आप यह क्या कर रहे? तो राजा बोला—हम एक विद्या इस पुरुष से सीख रहे हैं। तो मन्त्री बोला—यदि आप सीख रहे हैं कोई विद्या इस पुरुष से तो आप सिंहासन से उतर कर नीचे खड़े होइये और इस सिंहासन पर इस पुरुष को बैठाइये। आखिर राजा ने वैसा ही किया तब दो दिन में ही वह विद्या आ गई। तो यहाँ विनय की बात कह रहे कि जिससे कुछ सीखना है उसके प्रति विनय भक्ति, आदर, बहुमान अवश्य होना चाहिये। यह तो है लौकिक विद्या सीखने की बात। फिर मोक्षमार्ग में बढ़ने के लिए तो उन गुरुजनों के प्रति विनयभाव होना ही चाहिये। यदि आचार्य गुरुजन परोक्ष में हैं, सामने नहीं हैं तब भी उनका नाम लेकर उनके प्रति अंजुलि धारण करना, उनके गुणों का स्तवन करना और मन, वचन काय से उनकी आज्ञा का पालन करना यह सब उपचार विनय है। ज्ञान, आचरण, आराधना आदिक की सिद्धि विनय से ही होती है और बिनय तप से ही अन्त में मोक्ष सुख प्राप्त होता है। अतः अपनी प्रगति चाहने वाले आत्माओं को विनयभाव अवश्य ही रखना चाहिये। अब वैयावृत्य नामक तप के भेद कहते हैं।

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसङ्घसाधुमनोज्ञानाम् ॥ ९—२४ ॥

वैयावृत्य नामक तप के दस भेदों में प्रथम ५ वैयावृत्यों का निर्देश—दस प्रकार के गुरुजनों का वैयावृत्य करना सो १० प्रकार का वैयावृत्य कहलाता है। (१) आचार्यवैयावृत्य—जिस आचार्य के आश्रय से साधना चल रही है निश्चयतः तो आत्मा के आश्रय से ही साधना है, पर जिनकी छत्र-छाया में रह कर आत्मसाधना चल रही है ऐसे सम्यग्ज्ञान आदिक गुणों के आधारभूत आचार्यजनों से हे भव्य जीव व्रतको धारण, निर्वाह व आचरण करते हैं, उन आचार्यजनों के मन, वचन, काय से भक्तिपूर्वक सेवा करना आचार्यवैयावृत्य है। वैयावृत्य करने से एक समाधि के धारण में उत्साह मिलता है। ग्लानि पर विजय

होती है, धर्मात्माओं में वात्सल्य बढ़ता है। और धर्मात्माजनों को एक यह विश्वास रहता है कि किसी रुग्णादिक होने के समय हम अनाथ न रहेंगे। सेवा करने वाले धर्मात्माजन मौजूद हैं। इस प्रकार उनका चित्त समाधान रूप रहता है। जिससे वे धर्म मार्ग में निर्बाध चलते हैं। (२) उपाध्याय वैयावृत्य—जिन साधुओं के पास जाकर भव्य जीव विनयपूर्वक आगम का अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं ये उपाध्याय व्रत, शील की निरन्तर भावना रखते हैं। आगम के बड़े ज्ञाता होते हैं। अध्यापन की विधि को भलीभांति जानते हैं। ऐसे उपाध्यायजनों की सेवा करना उपाध्याय वैयावृत्य कहलाता है। उपाध्याय वैयावृत्य के समय ज्ञानभावना में बहुत उमंग रहा करती है और ऐसा वैयावृत्य करने वाले साधुजन ज्ञानभावना में सफल होते हैं और मोक्षमार्ग में निर्वाध विचरण करते हैं। (३) तपस्विवैयावृत्य—एक महीने का उपवास या अन्य प्रकार के उपवास आदिक तपों को तपने वाले तपस्वीजन हैं। ऐसे तपस्वी साधुओं की वैयावृत्ति के समय रत्नत्रय के सेवन का भाव रहता है, जिससे आत्मगुणों की वृद्धि होती है, ऐसे तपस्वीजनों का वैयावत्य यहां तीसरा वैयावृत्य कहा गया है। (४) शैक्ष्य वैयावृत्य—श्रुतज्ञान के शिक्षण में लीन और निरन्तर व्रतभावना में निपुण साधु शैक्ष्य कहलाते हैं याने जो उत्तम शिष्यजन हैं. जिनकी विद्या से तीव्र रुचि है ऐसे साधु शैक्ष्य हैं। उनकी सेवा करना शैक्ष्य वैयावृत्ति है। (५) ग्लान वैयावृत्य—जिनका शरीर रोग से आक्रांत है वे साधु ग्लान कहलाते हैं। ऐसे रोगी साधुजनों कीवैयावृत्ति करनाग्लानवैयावृत्य है। वैयावृत्य हर प्रकार की सेवा करने कोकहते हैं। वैसे वैयावृत्य का शब्दार्थ है व्यावृत्तपुरुषों का काम। जो संसार के कर्मों से निवृत्त हैं। जिन्हें रिटायर्ड कहते हैं। जिनको अब लौकिक कार्यों से कुछ प्रयोजन नहीं रहा, ऐसे साधुजनों का जो कर्तव्य है उसे वैयावृत्य कहते हैं। सो वैयावृत्य का अर्थ एक सामान्य है फिर भी रूढ़ि से वैयावृत्य का अर्थ शरीर की सेवा करना, वचन से सेवा करना, मन से सराहना करना यह सब वैयावृत्य कहलाता है।

दशविध वैयावृत्यों से उत्तर के ५ वैयावृत्यों का निर्देश—(६) गण वैयावृत्य—स्थगन प्रबुद्ध साधुजनों की संतति चली आयी है उनके शिष्य ये, उनके शिष्य ये, इस प्रकार के जो साधुजनों की संतति है उसे गण कहते हैं। ऐसे गण में रहने वाले साधुजनों की सेवा करना गण वैयावृत्य कहलाता है। (७) कुल वैयावृत्य—दीक्षा देने वाले आचार्य की जो शिष्य परम्परा है उसे कुल कहते हैं। जैसे किसी गुरु से एक शिष्य ने दीक्षा ली, अब वह शिष्य किसी और को दीक्षा देगा। इस तरह दीक्षा की जिसकी परम्परा चली आयी है उसको कुल कहते हैं। ऐसे कुल की वैयावृत्य करना कुल वैयावृत्य है। (८) संघवैयावृत्य—चारों प्रकार के श्रवणों के समूह को संघ कहते हैं। (१) ऋषी, (२) यती, (३) मुनि और (४) अनागार। ये चारों ही मुनि निर्ग्रन्थ दिगम्बर हैं, पर जिनके ऋद्धि विशेष हो जाय उन्हें ऋषि कहते हैं। जो आत्म में ध्यान देने में यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करते हैं उन्हें यती कहते हैं। जो ध्यान अध्ययन, मनन में विशेष निपुण हैं वे मुनि कहलाते हैं। बाकी सभी साधुओं का नाम अनागार है। अनागार का अर्थ है अगार जिनके नहीं है, घर का जिन्होंने त्याग कर दिया है ऐसे ४ प्रकार के श्रवणों के समूह का वैयावृत्य करना संघ वैयावृत्य है। (९) साधु वैयावृत्य—बहुत काल से दीक्षित पुराने साधकों को साधु कहते हैं। जिनको दीक्षा लिए हुए बहुत समय हो गया और भली साधना भी अनेक वर्षों से करते आ रहे हैं उन साधुओं की सेवा करना साधु वैयावृत्य है। (१०) मनोज्ञ वैयावृत्य—जो ज्ञान की विशेषता से, देह की विशेषता से, वचनों की विशेषता से सबको

प्रिय हो, ऐसे मुनि को मनोज्ञ कहते हैं। लोक में जो विद्वान हैं, कुशलवक्ता हैं, ऊँचे कुल के हैं वे सब सर्वप्रिय होते हैं। ऐसे मनोज्ञ संतों का वैयावृत्य करना मनोज्ञ वैयावृत्य है।

वैयावृत्य का विधान व प्रयोजन—वैयावृत्य में क्या-क्या किया जाता है? इन साधुओं पर कोई व्याधि आ जाये तो प्रासुक औषधि की व्यवस्था बनवाना, पथ्य आहारदान की व्यवस्था बनाना, उनका संस्तर बिछाना, उनको समय-समय पर धर्मोपकरण देना आदिक विधियों से उनके खेद का प्रतिकार करना, उनके सम्यक्त्व मार्ग में दृढ़ करना वैयावृत्य कहलाता है। ये साधुजन ग्लानि पर विजय किए हुए हैं। सो रोगी साधुजनों को कफ आया और कोई रखने का बर्तन मिट्टी आदिक का साधन नहीं है तो अपने हाथ से खकार निकालना, नाक आदिक भीतरी मल को साफ करना, और उनके मन को स्वच्छ प्रसन्न बना देना ये सब वैयावृत्य कहलाते हैं। यहाँ यद्यपि इतना ही कह देने से वैयावृत्य की बात आ जाती थी कि उनकी इस तरह सेवा करना। १० भेद कहना कोई अधिक आवश्यक न था फिर भी वैयावृत्य के अनेक भावों का निर्देश इस कारण किया है कि लोगों की रुचि के अनुसार किसी की किसी में विशेष प्रवृत्ति सेवा देखी जाती है सो उसके ही प्रकार इस १० संख्या में बताये गये हैं।

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशः ॥ ९–२५ ॥

वाचना पृच्छना नामक स्वाध्याय तपों का वर्णन—इस सूत्र में स्वाध्याय के ५ भेद बताये गये हैं—(१)वाचना, (२) पृच्छना, (३)अनुप्रेक्षा, (४) आम्नाय और (५) धर्मोपदेश। (१) वाचना का अर्थ है निर्दोष ग्रंथ का बाँच देना और उसके अर्थ का प्रतिपादन करना, या सिर्फ ग्रंथ बांचना, या अर्थ बताना, यह सब वाचना कहलाता है। निर्दोष ग्रन्थ को वांचे तब ही वाचना स्वाध्याय है। अन्य अटपट ऊल जलूल पुस्तक वाचने को स्वाध्याय नहीं कहा। निर्दोष ग्रंथों का प्रतिपादन तत्वार्थ को जानने वाले पुरुष करते हैं, सो यह वाचना स्वाध्याय निरपेक्ष भाव से हो तो स्वाध्याय है। जहाँ किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं है। केवल एक आत्मदृष्टि खुद को बने, दूसरे को बने, यह ही मात्र भावना होती है स्वाध्याय में। तो ग्रन्थों का अर्थ बांचना, प्रतिपादन करना वाचना नाम का स्वाध्याय है। (२) पृच्छना—किसी विषय में अपने को संशय हो गया हो—अमुक प्रसंग का, शब्द का, वाक्य का क्या अर्थ है? तो उस संशय के निवारण करने के लिए ग्रंथ का, अर्थ का या दोनों का पूछना पृच्छना स्वाध्याय है। पृच्छना स्वाध्याय करने वाला संत आत्मोन्नति के भाव को ही करता है। लोक में मेरी उन्नति समझी जाये या लोग जानें कि यह बहुत ऊँचा है, इस भाव से पृच्छना स्वाध्याय नहीं होता, और जो लोग केवल अपने भविष्य की उन्नति बताने के लिये, लोक में अपनी श्रेष्ठता जाहिर करने के लिये यदि कोई बात पूछना है तो वह स्वाध्याय नहीं कहलाता। पृच्छना स्वाध्याय करने वाला पुरुष दूसरे को शर्मिन्दा करने के ख्याल से नहीं करता। यदि कोई इस भाव से पूछे कि मैं कोई ऐसी बात पूछूँ कि वक्ता से भी उसका उत्तर देते न बने और उसे शर्मिन्दा होना पड़े तो यह आशय उसका बहुत गलत है और वह स्वाध्याय से बहुत दूर है। भव्य जीव दूसरे का उपहास करने के लिए, दिल्लगी करने के लिए प्रश्न नहीं करता अथवा इससे संघर्ष करूँ, विवाद करूँ, कलह करूँ, इस भाव से भी स्वाध्याय नहीं किया जाता। ऐसे भाव से स्वाध्याय किया जाने से वह पाप का बंध करता है। हाँ यदि कोई संदेह होता है तो उसका निराकरण करने के लिये पूछा जाता है अथवा

उस विषय सम्बन्ध में कुछ निर्णय कर रखा हो और मेरा निर्णय सही हो, पुष्ट हो, मेरे निर्णय में मजबूती आये। इस भाव से पूछना सो पृच्छना स्वाध्याय है।

अनुप्रेक्षा, आम्नाय व धर्मोपदेश नाम से स्वाध्याय तपों का निर्देशन—(३) अनुप्रेक्षा स्वाध्याय—पदार्थ का स्वरूप जानकर बार-बार इस तरह से विचारना, मनन करना कि मैं अपने चित्त में तद्रूप बन जाऊँ, ऐसी भावना को अनुप्रेक्षा स्वाध्याय कहते हैं। जैसे आत्मा के स्वरूप का मनन किया तो जैसे जाना कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, विकार से रहित हूँ। स्वरूपत: मैं जैसा सहज हूँ, सो हूँ। इस तरह की दृष्टि बनाते हुए इन वचनों के आधार से अपने आप को ढालना यह है अनुप्रेक्षा स्वाध्याय। (४) आम्नाय स्वाध्याय— रोज का पाठ फेरना, जैसे भक्तामर स्तोत्र का पाठ करना यह सब आम्नाय नाम का स्वाध्याय है। जो आचरण में पारगामी है, व्रत पालन करने वाला है वह किसी लौकिक फल की इच्छा नहीं रखता और एक विनयपूर्वक पाठ को फेरता है, स्तवन आदिक करता है तो यह उसका आम्नाय नामक स्वाध्याय है। पाठ का फेरना न तो बहुत जल्दी-जल्दी हो और न बहुत धीरे-धीरे। किंतु ऐसी रफ्तार में हो कि जिससे शब्दों का अर्थ भली-भाँति अपनी समझ में और दूसरों की समझ में आता जाय। तो पाठ पढ़ने के ये सब दोष हैं—जल्दी-जल्दी पढ़ना, अव्यक्त पढ़ना, धीरे-धीरे पढ़ना, मन ही मन गुनगुनाना आदि। ऐसे दोषों से रहित होकर पाठ स्तवन का फेरना आम्नाय नामक स्वाध्याय है। (५) धर्मोपदेश स्वाध्याय—धर्म सम्बन्धी कथा करना, तत्व का प्रकाशन करना धर्मोपदेश स्वाध्याय है। प्रत्येक स्वाध्याय में स्वका अध्ययन मुख्य है। सो धर्म कथा करता हुआ साधु भी बोलते समय अपने आत्मा की दृष्टि रखा करता है। धर्मोपदेश करने वाला महापुरुष लौकिक ख्याति या किसी वस्तु का लाभ, आशा कुछ भी फल को नहीं चाहता। वह तो उन्मार्ग (कुमार्ग) की निवृति के लिए धर्मोपदेश करता है। लोक वस्तु स्वरूप से विरुद्ध तत्व को न पकड़ें और यथार्थ तत्व को जानें अथवा उनको किसी प्रकरण में संदेह हो गया हो तो उनका सन्देह दूर हो अथवा अपूर्ण तथ्यभूत पदार्थ का प्रकाशन हो, लोग समझें, इसके लिए धर्मकथा हुआ करती है। ऐसे प्रयोजन के लिये स्वाध्याय करना कल्याणार्थी जनों का मुख्य कर्तव्य है।

स्वाध्याय तप करने के प्रयोजन—स्वाध्याय तप करने के प्रयोजन क्या हैं? उन प्रयोजनों में कुछ इस प्रकार हैं—(१) स्वाध्याय करने से बुद्धि का अतिशय बढ़ता है क्योंकि स्वाध्याय में ज्ञान का ही तो लाभ होता है और उससे बुद्धि विशिष्ट हो जाती है। (२) दूसरा लाभ है शुभसंकल्प। अच्छे काम के लिए चित्त में दृढ़ता आ जाती है। जब प्रथमानुयोग का स्वाध्याय है तो महापुरुषों के चारित्र सुनकर उसके अनुसार चलने की मन में भावना होती है। करणानुयोग का स्वाध्याय हुआ तो लोक और काल का जब परिचय होता है तब संसार भ्रमण का भय हो जाता है और उस समय उसके शुभ विचार हो जाते हैं। चरणानुयोग में शील व व्रत का वर्णन सुनकर स्वयं में व्रत, शीलादिक की भावना जग जाती है। द्रव्यानुयोग में जब प्रत्येक वस्तु का पृथक-पृथक अस्तित्व जाना जाता है तब बाह्य पदार्थों में क्या करना, ऐसी बुद्धि जगने से उसका अच्छे काम के लिए ही भाव बनता है। (३) तीसरा प्रयोजन है ज्ञान की स्थिति, ज्ञान ठहरा रहता है। कोई कितना ही सीखा हो, यदि स्वाध्याय बन्द कर दे तो कुछ काल बाद वह सीखा हुआ भी विस्मृत हो जाता है। (४) चौथा प्रयोजन है संशयविनाश। जब स्वाध्याय करते हैं और बीच-बीच में कोई संशय होता है तो स्वाध्याय करने से वह संशय स्वयं दूर हो जाता है। (५) ५वां प्रयोजन है स्वाध्याय का कि परवादियों में शंका नष्ट

हो जाती है याने दूसरे सिद्धांत से लेकर यदि कोई शंका हुई हो तो वह दूर हो जाती है। (६) छठा प्रयोजन है कि स्वाध्याय करने से परम संवेग होता है। धर्म में अनुराग बढ़ता है, संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य बढ़ता है। (७) स्वाध्याय का ७वाँ प्रयोजन है कि तपश्चरण में वृद्धि होती है इच्छा निरोध होना। (८) ८वाँ प्रयोजन है कि यदि कोई अतिचार लगता हो तो उनकी मौलिक शुद्धि हो जाना आदिक अनेक प्रकार के प्रयोजन स्वाध्याय से सिद्ध होते है। इस कारण स्वाध्याय करना परम आवश्यक है। अब व्युत्सर्ग नामक तप के भेद कहते हैं।

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ।। ९—२६ ।।

भेदकथनपूर्वक व्युत्सर्ग नामक तप का प्रतिपादन—बाह्य और अन्तरङ्ग उपाधि का त्याग होना व्युत्सर्ग है। उपाधि का अर्थ है अन्य पदार्थ जो उसके ही कोई विकार का आश्रयभूत बनता हो उपाधि शब्द का शब्दार्थ है यह कि………जो पदार्थ अन्य में बलाधान के लिए ग्रहण किया जाता है उसे उपाधि कहते हैं। बलाधान का अर्थ है विकार होने में निमित्त होना। सो जो उपाधि से दूर हैं मायने आत्मा के प्रदेशों से अलग हैं। आत्मा के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं हुए हैं उनका त्याग करना बाह्योपाधिव्युत्सर्ग है। अन्तरंग उपाधि के कितने भाव हैं? क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व हास्यादिक जो आत्मा में अन्तरंग दोष होते हैं उनकी निवृत्ति हो जाना यह है आभ्यन्तरोपाधिव्युत्सर्ग। शरीर से भी ममता त्याग दे तो वह भी अन्तरंग व्युत्सर्ग है। शरीर से ममता तो छूटी हुई ही है, तब ही तो मुनि हुआ है, पर शरीर का राग भी न होना, ख्याल भी न होना, परिचय न होना। इस प्रकार नियत काल तक इस प्रकार का उत्सर्ग होना अन्तरंग उत्सर्ग है ओर यावज्जीव ममत्व मेटना आभ्यन्तरोपाधिव्युत्सर्ग है।

व्युत्सर्ग तप के प्रतिपादन की सार्थकता—यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि जब महाव्रत का उपदेश दिया वहाँ परिग्रह त्याग नाम का व्रत बताया गया है। सो परिग्रह त्याग नाम के महाव्रत में ही यह उत्सर्ग तप आ गया, इसको अलग से क्यों कहा जा रहा? समाधान—परिग्रहत्याग महाव्रत में जो परिग्रह की निवृत्ति बताया है उसका अर्थ है कि सोना, चाँदी, वस्त्राभूषण आदि न रखना चाहिए। ये सब बाह्य उपाधियाँ हैं। इनका त्याग होना चाहिये, और अन्तरंग में जो क्रोधादिक आते हैं उनका त्याग होना चाहिये। शंका—ये अन्तरंग त्याग तो १० प्रकार के धर्मों में आ ही गये। उत्तम त्याग नाम का धर्म है तब उसमें सब त्याग आ ही गया। तो व्युत्सर्ग का प्रकरण अलग से करना ठीक नहीं है। समाधान - १० प्रकार के धर्मों में जो त्याग बताया है वह प्रासुक निर्वद्य आहार आदिक की निवृत्ति वाला त्याग है। अथवा दान करना भी त्याग है। यहाँ जो अपने सम्पर्क में कुछ भी पर पदार्थ हैं उनके ममत्व का त्याग है। शंका—जो प्रायश्चित के भेद बताए गए हैं उन भेदों में भी व्युत्सर्ग—शब्द आया है, तो उस व्युत्सर्ग से ही त्याग की बात सिद्ध हो जाती है फिर यह व्युत्सर्ग नाम का तप अगल से क्यों बताया गया है? समाधान—प्रायश्चित के भेदों में जो व्युत्सर्ग प्रायश्चित बताया है सो वह अतिचार को शुद्ध करने के लिए बताया है। वे निरन्तर किये जाने के लिए नहीं है और व्युत्सर्ग तप सदैव किये जायें इस प्रयोग वाले तप हैं, अर्थात प्रायश्चित में व्युत्सर्ग तो प्रतिद्वन्दी है। उस व्युत्सर्ग का प्रतिद्वन्दी अतिचार है। अतिचार की शुद्धि के लिए व्युत्सर्ग तप है, प्रायश्चित है, किन्तु यहाँ पर जो व्युत्सर्ग तप कहा है वह अपेक्षा नहीं रख रहा किन्तु ममत्व का त्याग करना यह ही उद्देश्य है। शंका—तब फिर यही व्युत्सर्ग ठीक है, फिर जगह-जगह व्युत्सर्ग क्यों

दिये गए ? प्रायश्चित में व्युत्सर्ग न बर्ते इन भेदों में से ही सारी बात सिद्ध हो जाती है। व्युत्सर्ग शब्द देने का अर्थ यह है कि ये तप शक्ति अनुसार किए जाते हैं, कहीं दोषसहित भी व्युत्सर्ग चलते हैं कहीं निर्दोष व्युत्सर्ग चलते हैं। कभी अवधि देकर नियत काल तक व्युत्सर्ग चलते हैं। कहीं यावज्जीव चलते हैं। तो यह व्युत्सर्ग पुरुष की शक्ति की अपेक्षा से बताया गया है इस कारण पुनरुक्ति का दोष नहीं है दूसरी बात यह है कि उत्तरोत्तर गुणों की महिमा बढ़ाने और निर्विकल्प होने में उत्साह बने इस प्रयोजन के करण पुनरुक्ति का दोष नहीं आता।

व्युत्सर्ग तप के प्रयोजन—अब व्युत्सर्ग तप किन प्रयोजनों से किये जाते हैं उन प्रयोजनों को बतलाते हैं। व्युसर्गतप करने से निस्संगता प्रकट होती है। कोई संग कोई वस्तु दूसरा साथी नहीं रहता। व्युत्सर्ग तप तपने से निर्भयता उत्पन्न होती है। भय हुआ करता है उन जीवों को जो बाह्य पदार्थों का संग्रह रखते हैं, उनमें आशा रखते हैं, पर जो बाह्य पदार्थों का त्याग करते हैं, उनकी आशा का परिहार करते उन जीवों को भय किस बात पर ? व्युत्सर्ग तप करने से जीने की आशा का भी परिहार हो जाता है। मनुष्यों में जीने की आशा प्राय: रहा करती है और इस आशा के कारण पद-पद पर व्याकुल होना पड़ता है, किन्तु व्युत्सर्ग तप करने वाले में जीने की आशा सम्बन्धी विकल्प नहीं रहता, वह तो जानता कि मैं जो हूँ सो हूँ, इस कारण अन्तरंग में वह अनाकुल रहता है। व्युत्सर्ग तप करने से दोषों का विनाश होता है। कोई व्रत आदिक में दोष हुआ हो तो वे दोष भी दूर हो जाते हैं, अथवा जो कुछ दोष शेष रह गए हैं रागद्वेषादिक वे भी समाप्त हो जाते हैं व्युत्सर्ग तप करने से मोक्षमार्ग की भावना मजबूत बनती है। उसको एक उत्साह बनता है कि मैं इन सब उपाधियों से रहित होकर केवल चैतन्यमात्र रहूँ। इस प्रकार अन्य भी उसके प्रयोजन हैं। उसके लिए ये व्युत्सर्ग तप किये जाते हैं जो कि नाना प्रकार के अभी बताये हैं। अब जैसे कि पहले बताया गया था २ वें सूत्र में कि ध्यान नामक तप से पहले के भेद कहे जा रहे हैं, सो उन भेदों का वर्णन तो पूर्ण हो चुका, अब ध्यान का कथन किया जाना चाहिए। उसके विषय में सूत्र कहते हैं।

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहुर्त्तात् ॥ ९–२७ ॥

ध्यान नामक तप के प्रतिपादन के आरम्भ के सूत्र में ध्यान के लक्षण स्वामी व काल का कथन—इस सूत्र में कई विषयों पर विचार किया गया है। जैसे ध्यान—का क्या लक्षण है। यह ध्यान उत्कृष्ट किसके होता है ? ध्यान अधिक से अधिक कितने समय तक ठहरता है। तो उक्त बातों का स्पष्टीकरण इस सूत्र में है एक विषय की ओर चिन्तन का बना रहना यह ध्यान कहलाता है। यह ध्यान उत्तम संहनन वाले पुरुषों के होता है। ध्यान तो सभी संसारी जीवों के चलता है किन्तु उत्कृष्ट ध्यान उत्तमसंहननवाले जीव के ही होता है, क्योंकि जिनका संहननहीन है उनके विचलित होने का सदैव अवकाश है यह ध्यान उत्कृष्ट रूप से अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होता है। तो स्थाई और स्थिति दोनों का सम्बन्ध जुड़ना चाहिये। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होता है ध्यान। यह ध्यान उत्तम सहनन वाले के ही हो सकता। उत्तम संहनन ३ कहलाते हैं। (१) बज्रवृषभ नाराच संहनन, जहाँबज्र के हाथ, वज्र का ही बेठन और वज्र की ही कीलियाँ होती हैं। इस संहनन में हड्डियों नसों से लिपट कर सुरक्षा नहीं होती। किन्तु एक हड्डी और दूसरी हड्डियों का बनना कीलियों द्वारा रहता है तब ही यह पुष्ट संहनन होता है। (२) दूसरा संहनन है बज्र नाराच संहनन—जहाँ बज्र की हड्डी और बज्र की कीली है किन्तु बेठन बज्र का नहीं है, बेठन कहलाता है वह हड्डियों के ऊपर लिपटा हुआ

मांस, जिस पर बैठने सोने से दबाव पड़ता है। (३) तीसरा संहनन है नाराच संहनन। यहाँ वज्रमय कीलियाँ होती हैं। ये तीन उत्तम संहनन हैं, क्योंकि उत्कृष्ट ध्यान में ये हेतुभूत हैं। इन तीन में भी मोक्ष का कारणभूत पहला संहनन है। कोई ध्यान तीनों में होता है। इस प्रकार इस सूत्र में स्वामी लक्षण और स्थिति इन तीन का वर्णन किया गया है।

ध्यान के लक्षणादि का स्पष्टीकरण—ध्यान का लक्षण बताया है—एकाग्रचिन्तानिरोध: एक यहाँ संख्यावाची शब्द है। केवल एक पदार्थ अनेक नहीं, क्योंकि एक ही केवल असहाय पदार्थ के बारे में चिन्तन चलता है, वह ध्यान कहलाता है। अग्र का अर्थ है—मुख अथवा लक्ष्य मायने एक मुख के अग्र में प्रधान में चिंतन रखना है। चिन्तन का अर्थ है मन की वृत्ति। उस पदार्थ के विषय में चिंतन और रुकने का अर्थ है कि वह चित्तवृत्ति केवल एक चिंतन में ही रहे। जाना, बैठना, खाना, अध्ययन आदिक ऐसी क्रियाओं में न बैठेगा उसे कहते हैं चिन्तानिरोध। जैसे वायुरहित स्थान में जहाँ हवा न चल रही हो वहाँ अग्नि की ज्वाला स्थिर रहती है उसी प्रकार निराकुल देश में, एक लक्ष्य में बुद्धि और शक्तिपूर्वक रखी गई चित्तवृत्ति बिना व्याकुलता के वहाँ स्थिर रहती है। अन्य जगह न भटकेगी। तो एकान्त में ध्यान होना या एक पदार्थ का ध्यान होना द्रव्य परमाणु अथवा अन्य एक-एक द्रव्य किसी भी अर्थ में चित्तवृत्ति को केन्द्रित करना ध्यान कहलाता है। ध्यान शब्द की सिद्धि भावसाधन और कर्तृसाधन में होती है। जब भावसाधन की विवक्षा की—ध्याति: इति ध्यान, तो वहाँ ध्येय पदार्थ के प्रति उदासीनभाव की विवक्षा है। ध्यान होना सो ध्यान है। जब ध्यान शब्द का कर्तृसाधन में प्रयोग किया जाता है—ध्यायति इति ध्यानं अर्थात ध्यान करता है वह ध्यान है। ध्यान करने वाले आत्मा के परिणामों को ध्यान कहते हैं। जैसे अग्नि जलती है तो अग्नि अपने स्वरूप के द्वारा जलती है। जलना कोई अग्नि से अलग वस्तु नहीं है। ऐसे ही यह ध्यान आत्मा से अलग वस्तु नहीं है। ध्यान के द्वारा ही ध्यान बन रहा है, सो कर्ता कर्म करण ये सब एक ही इस आत्मवस्तु में घटित हो जाते हैं। अन्तर्मुहूर्त का अर्थ है पूर्णमुहूर्त नहीं किन्तु उससे एक समय कम। यहाँ तक ध्यान चलता है। मुहूर्त शब्द कालविशेष का वाचक है, जिसको दो घड़ी कहते हैं ४८ मिनट। एक घड़ी २४ मिनट की होती है। उस अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ध्यान की उत्कृष्ट स्थिति होती है। एकाग्रता में ध्यान होता है। इस कथन से यह सिद्ध है कि व्यग्रता हटे तब ध्यान होता है। जो व्यग्र ज्ञान है जिस स्थान में व्यग्रता चल रही है वह ध्यान नहीं कहला सकता। ध्यान का उत्कृष्ट काल अन्त: मुहूर्त है। इसके बाद एक ही ध्यान लगातार नहीं रह सकता है। यहाँ चिंतवन का निरोध जो बताया गया है सो वहाँ कुछ नहीं है, शून्य है यह अर्थ न लेना किन्तु अन्य चिन्ता में नहीं है। केवल एक ही ध्यान है इसलिए वह सद्भाव रूप है वहाँ ज्ञान का विषय चल रहा है।

सूत्र में एकाग्र के बजाय एकार्थ शब्द न कहने का प्रयोजन—यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि एकाग्रचिन्तानिरोध के बजाय यदि एक अर्थ में चिन्तानिरोध कहा जाता तो वह अधिक स्पष्ट रहता जिसका अर्थ होता कि एक ही पदार्थ में चिन्तवन का रुकना। तो अग्र शब्द न कहकर अर्थ शब्द कहा जाना चाहिए था। तो यदि यहाँ अग्र शब्द न कह कर अर्थ कहा जाता तो उसमें अनिष्ट दोष आ सकता था। वह क्या अनिष्ट दोष है सो देखो—आगे यह कहा जायेगा कि अर्थ शब्द और योग के पल्टन को वीचार कहते हैं। याने द्रव्य से पर्यायों में, पर्याय से द्रव्य में अगर ज्ञान चलता है तो वह परिवर्तन कहा जाता है। सो यहाँ यह बताया जा रहा है कि ध्यान में अर्थ का संक्रमण है। यदि

एक ही अर्थ का चिन्तवन ध्यान कहते तो ध्यान का वह लक्षण सही नहीं बनता और एकाग्र पद देने में ध्यान का लक्षण सही बन गया क्योंकि अग्र का अर्थ मुख्य बना। मायने ध्यान अनेक मुखी न होकर एकमुखी रहा। एक ही पदार्थ में ध्यान जमे, चाहे द्रव्य गुण पर्याय बदलते रहें तो वह भी ध्यान कहलायगा। अथवा अग्र का अर्थ आत्मा से लीजिये। जो जाने सो अग्र है। तो यहां द्रव्यरूप से एक आत्मा का लक्ष्य बनाना ठीक हो ही रहा है। ध्यान तो आत्मा की वृत्ति का नाम है यहाँ बाह्य चिन्तायें सब दूर हो जाती हैं। तो ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक ही ठहर सकता है। इससे अधिक नहीं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि ध्यान और समाधि ६-६ महीने तक ठहराये जा सकते हैं तो उनकी वह बात सही नहीं है, क्योंकि उतने समय तक तो क्या एक मुहूर्त पूरा भी एक ही ध्यान रहेगा तो या तो कहो निर्वाण होगा या कहो जबरदस्ती का प्रयोग किया तो मरण हो जायेगा। इन्द्रिय का उपघात हुआ, श्वासोच्छ्वास के निरोध का नाम ध्यान नहीं कहा गया। श्वासोच्छ्वास रोकने की वेदना से मरण भी सम्भव है। ध्यान अवस्था में श्वासोच्छ्वास तो स्वाभाविक चलता है। तो जैसे श्वासोच्छ्वास का रोकना ध्यान नहीं ऐसे ही सम्पूर्ण मात्राओं का गिनना भी ध्यान नहीं। कोई गिनने से ध्यान थोड़े ही बना, व्यग्रता रहती है। तो यह ध्यान का लक्षण बिल्कुल सही है कि एक पदार्थ में अग्रता से चिन्तवन चलते रहना ध्यान कहलाता है।

प्रकरण से ही ध्यान की विधि का परिचय—यहाँ एक जिज्ञासु कहता है कि इस ध्यान का निर्देश करने वाले सूत्र में स्वामी का वर्णन किया, लक्षण बताया और सम्बन्ध बताया, और जो असली बात है कि ध्यान की विधि क्या है। ध्यान करने का उपाय क्या है। वह तो यहाँ नहीं किया गया, तो ध्यान की विधि का उपाय बताना मुख्य था। वह क्यों नहीं बताया? समाधान—ध्यान करने की विधि का उपाय तो यह सारा प्रकरण ही है। गुप्ति आदिक के जो कर्तव्य बताये गये वे ध्यान के लिए ही बताये गये। जिज्ञासु कहता है कि वे सब तो सम्वर तत्व की जानकारी के लिये बताये हैं कि गुप्ति आदि उपायों से कर्मों का सम्वर होता है। ध्यान का उपाय बताने के लिये नहीं कहा, किसी अन्य प्रयोजन के लिये कही हुई बात अन्य के लिये नहीं हुआ करती। समाधान—जो पहले गुप्ति आदि बताये गए हैं वे दोनों के लिये ही हैं। ध्यान का उपाय भी वही है सम्वर का उपाय भी वही है। जैसे कि धान के खेतों में पानी देने के लिए छोटी तलैया बनाते हैं जिसमें यंत्र द्वारा खींच कर फसल सींची जाती है। तो उस तलैया से फसल भी सींची जाती और प्यास लगे तो पानी भी पी लिया जाता है, कुल्ला भी कर लिया जाता है। ऐसे ही गुप्ति आदिक का जो विधान बताया है वह सम्वर के लिये भी है और कल्याण की भूमिका बनाने के लिये भी है। अथवा ध्यान सम्बन्धी ग्रंथों में ध्यान का विधि विधान बताया है सो वहाँ से जान लीजिये। यहाँ तो ध्यान का केवल लक्षण ही बताया गया है। ध्यान के लक्षण में मुख्य बात यह कही गई कि एक अर्थ की ओर ही मुख्यता से उपयोग हो उसको ध्यान कहते हैं। अब ध्यान के भेद बतलाते हैं।

आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ ९—२८ ॥

ध्यान के प्रकारों का निर्देशन—ध्यान ४ प्रकार का है - (१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान। ऋत मायने दुःख है और आर्त मायने भी दुःख है। सो दुःख में होने वाले ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं। जैसे लोग कहते हैं कि क्यों आर्तध्यान करते? मायने संक्लेश पीड़ा वाला ध्यान क्यों करते? यह आर्तध्यान खोटा ध्यान है। रुद्र क्रूर को कहते हैं। जो

रुलाने वाला हो उसे रुद्र कहते हैं। और रुद्र का जो कर्म है अथवा रुद्र में होने वाला जो ध्यान है उसे रौद्र ध्यान कहते हैं। यह रौद्र ध्यान आर्तध्यान से भी खोटा है। धर्म युक्त ध्यान को धर्म ध्यान कहते हैं। जिस ध्यान में आत्मदृष्टि बने, परमात्मस्वरूप का स्मरण बने, सर्व जीवों में समता का भाव बने आदिक धर्म सम्बन्धी ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं और स्वच्छ ध्यान को शुक्ल ध्यान कहते हैं। जैसे मैल हट जाने से कपड़ा साफ होकर शुक्ल कहलाता है इसी प्रकार कषायों का मैल हटने से जो निर्मल गुणरूपी आत्मप्रवृत्ति होती है उसे शुक्ल कहते हैं। इन चार ध्यानों में आदि के दो ध्यान तो पापाश्रव के कारण हैं आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये अप्रशस्त ध्यान हैं और अन्त के दो ध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये कर्म के जलाने में समर्थ होने से प्रशस्त ध्यान कहलाते हैं।

परे मोक्षहेतू॥ ९-२८॥

धर्म्यध्यान व शुक्लध्यान की मोक्षहेतुता—अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं, इस सूत्र में परे शब्द द्विवचनान्त है जिससे अन्त के दो ध्यान यह अर्थ लिया जाता है। अन्त का ध्यान तो शुक्ल ध्यान है और जब अन्त के दो ध्यान कहे तो शुक्ल के निकट ही जो नाम हो वह लिया गया है। तो ये दो ध्यान मोक्ष के कारणभूत हैं। यहाँ दो ध्यानों को मोक्षहेतु कहा, इससे यह अर्थ लेना कि पहले के दो ध्यान संसार के कारण हैं। वास्तविक धर्मध्यान और शुक्लध्यान सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव के ही होता है शुक्लध्यान तो समाधि वाले मुनि के होता है, पर धर्मध्यान वस्तुतः ज्ञानी के होता है। अज्ञान में भी लोगों को धर्म की इच्छा होती है, प्रवृत्ति होती है, पर वे बाह्य क्रियाओं को धर्म मानकर उसकी क्रिया करते हैं। धर्म आत्मा का कषायरहित परिणाम है। जितने अंश में कषाय न रहे उसके कारण जो आत्मा में निर्मल परिणति होती है वह धर्मध्यान है उस परिणति में होने वाला मनन धर्मध्यान कहलाता है, इसकी खबर अज्ञानी को नहीं है। कितने ही लोग मुख से ऐसे वचन भी कहने लगे किन्तु उसका अनुभव और परिचय नहीं बन पाता। धर्म आत्मा का स्वभाव है। धर्म किसी अन्य पदार्थ से नहीं आता, बाजार में खरीदने से नहीं मिलता, तीर्थों में मस्तक रगड़ने से नहीं मिलता, किन्तु आत्मा का स्वभाव आत्मा में है और उसकी दृष्टि से धर्मपालन होता है। धर्मपालन के लिए तीर्थवन्दना, पूजा आदिक हुआ करते हैं, तो यह धर्मध्यान साक्षात् तो मोक्ष का हेतु नहीं है, पर धर्मध्यानपूर्वक ही शुक्लध्यान होता है इस कारण धर्मध्यान भी मोक्ष का परम्पर्या हेतु है। अब आर्तध्यान का लक्षण कहते हैं।

आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः॥ ९-३०॥

आर्तध्यान के चार प्रकारों में से अनिष्ट संयोगज नाम के प्रथम आर्तध्यान का लक्षण—आर्तध्यान ४ प्रकार के होते हैं - (१) अनिष्ट संयोगज, (२) इष्ट वियोगज, (३) वेदना प्रभव और, (४) निदान। उनमें से प्रथम आर्तध्यान का इस सूत्र में लक्षण किया गया है। अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उनके वियोग के लिए विशेष चिन्ता होना आर्तध्यान है। जैसे कोई विष पिलाने पर उतारु हो रहा है तो उस अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर यह कैसे दूर हो, ऐसा जो भीतर में क्षोभ मचता है, चिन्तन चलता है वह आर्तध्यान है। शत्रु सामने आ जाए, कोई शस्त्र लेकर आक्रमण करने आ जाए तो उन अनिष्टों में संयोग होने पर जो भीतर बेचैनी होती है और वहाँ वियोग के लिए प्रबल चिन्ता होती है उसको अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान कहते हैं। इस सूत्र में चिन्तवन शब्द के बजाय स्मृति समन्वाहारः शब्द दिया है, जिसका अर्थ यह है कि स्मृति को दूसरे पदार्थों की ओर

न जाने देकर बार बार उस ही में लगाना यह है स्मृति समन्वाहारः, जो अनिष्ट पदार्थ सामने आ गया – अब उसकी स्मृति में लग रहे हैं, उस ही का चिन्तन हो रहा है, दूसरा कुछ ख्याल में नहीं आ रहा, ऐसा सबल चिन्तन बन गया है इसे स्मृति समन्वाहारः अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान कहते हैं।

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ९-३१ ॥

इष्ट वियोगज नाम के द्वितीय आर्तध्यान का लक्षण—ऊपर के सूत्र में अनिष्ट सयोगज आर्तध्यान का स्वरूप कहा है। इसमें इष्ट वियोगज आर्तध्यान का स्वरूप कहा जा रहा है। तो पूर्व सूत्र से अनेक शब्दों की अनुवृत्ति इसमें आती है, तब सूत्र में जो दो पद दिया है उनका अर्थ है इष्ट का उल्टा। अब पूर्व सूत्र से शब्दों की अनुवृत्ति लेकर अर्थ बना कि इष्ट का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए स्मृति समन्वाहारः होना अर्थात अत्यन्त अधिक चिन्तनधारा चलना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है। इष्ट क्या है संसारी जीवों को ? धन, वैभव, कुटुम्ब, मित्रजन, इनका वियोग हो जाने पर यह दूसरे देश चला जाए, ऐसा वियोग हो जाए या राजा उनको कैद कर दे, ऐसा वियोग हो जाए अथवा उन इष्टों का मरण हो जाए, ऐसे वियोगों में जो अन्य जगह ख्याल न जाए और केवल उस ही का स्मरण चले तो इसको इष्ट वियोगज आर्तध्यान कहते हैं। यद्यपि ऐसा ध्यान अज्ञान अवस्था में ही होता है, जहाँ पृथक्-पृथक् सत् का ज्ञान नहीं है और दूसरे पदार्थ को आया मान लिया वहाँ ही ऐसा कठिन आर्तध्यान होता है फिर भी जिसको सम्यक्त्व हो गया, सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यक्चारित्र में प्रवेश किया है ऐसे साधुजन भी प्रमाद दशा में किसी प्रिय शिष्य का वियोग होने पर, गुरु का वियोग होने पर वहाँ भी उनका ध्यान करते हैं और ऐसा आर्तध्यान हो जाया करता है ऐसे आर्तध्यान को दूर करने का उपाय सिर्फ सम्यग्ज्ञान ही है।

वेदनायाश्च ॥ ९-३२ ॥

वेदना प्रभव नामक तृतीय आर्तध्याम का लक्षण—सूत्र का अर्थ—"और वेदना का", इससे पूर्व से भी पूर्व सूत्र में अनुवृत्ति आयो है जैसे कि प्रथम आर्तध्यान में कहा था वेदना का संयोग होने पर उसके विकार के लिए चिन्ता होना वेदना प्रभव आर्तध्यान है। देखो वेदना होने पर उसको दूर करने के लिए धैर्य खोकर जो चिन्ता और विकलता होती है, हाथ पैरों का पटकना, शोक करना, आँसू गिराना, और के बारे में चिन्तन चलना यह सब वेदनाजन्य आर्तध्यान है, जो मुख्यतया अज्ञानी जीवों के होता है फिर भी कर्म विपाक बड़ा विचित्र है। सम्यग्दृष्टि को कोई शारीरिक तीव्र वेदना होने पर किसी समय किसी रूप में वहाँ भी यह आर्तध्यान सम्भव है, लेकिन सम्यक्त्व और ज्ञान के बल से मौलिक एकता उन्हें नहीं दी जिससे कि अन्धकार हो सामने और शान्ति का मार्ग न दिखे बड़ी विह्वलता न हो। कर्म विपाकवश शरीर की वेदना तीव्र होने पर सही न जाए और उसका कुछ प्रतिकार भी कराले तिस पर भी चूँकि आत्मस्वरूप का अनुभव सहित परिचय पाया है ज्ञानी ने, ऐसा ज्ञानी साधु वेदना प्रभव आर्तध्यान मुख्य नहीं है। तो शरीर में रोग लाखों करोड़ों की संख्या में हैं, अथवा कोई चोट लग जाए, ऐसी अनेक वेदनायें चलती हैं, उन वेदनाओं के होने पर जो उस वेदना सम्बन्धी स्मृति बनी रहती है वह है तृतीय आर्तध्यान।

निदानं च ॥ ९-३३ ॥

निदान नामक चतुर्थ आर्तध्यान का लक्षण व परिणाम—चौथा आर्तध्यान निदान है। किसी रोग के वश या तीव्र तृष्णा, कामवासना आदिक के कारण यह भावना होती है कि मेरे को इस तप के

बदले, इस धर्मसाधना के बदले अगले भव में विषयों के सुख मिलें, ऐसी भावना को निदान कहते हैं। यह निदान आर्तध्यान बहुत खोटा आर्तध्यान है। मुनिजनों के प्रथम तीन, आर्तध्यान तो हो जायेंगे पर निदान नाम का आर्तध्यान मुनि के सम्भव नहीं है। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि पहले विपरीत मनोज्ञस्य यह सूत्र आया है, जिसका अर्थ यह है कि इष्ट पदार्थ का वियोग होने पर उसका ही ख्याल बना रहना कब मिले, वह कहलाता है इष्ट वियोगज आर्तध्यान। तो निदान भी उसमें शामिल हो जाएगा, क्योंकि निदान में भी इष्ट पदार्थों के संयोग का चिन्तन किया है। फिर इस निदान को कहने का क्या अर्थ है ? समाधान—इष्ट वियोगज में और निदान में यह अन्तर है कि वहाँ तो इष्ट पदार्थ जो पहले मिला हुआ था उसका हो गया वियोग। अब उसके संयोग के लिए ख्याल चल रहा है और निदान में वह चीज मिली ही नहीं है। कभी पहले प्राप्त नहीं हुई इस भव में, और आगे भव के लिए उसकी आशा की जा रही, बंधन बाँधा जा रहा यह है निदान। तो यों निदान में और इष्ट वियोगज आर्तध्यान में अन्तर है। तो निदान तो अप्राप्त चीज की प्राप्ति के लिए होता है और इष्ट वियोगज प्राप्त का वियोग होने पर संयोग के लिये होता है। निदान में परभव के विषय सुख की आशा की जाती है। आसक्ति रहती है और अगले भव में हमको इष्ट पदार्थ मिलें, उसके लिए निरन्तर चिन्तन रहता है। इष्ट वियोग में तो जब इष्ट का वियोग होता तब ही ख्याल आता है, पर निदान में सदैव चित्त में यह बात रहती है कि मेरे को अगले भव में विषय सुख प्राप्त हों। ये चारों आर्तध्यान, कृष्ण-लेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या वाले जीवों के होता है। यह आर्तध्यान अज्ञान मूलक है। जहाँ भेद विज्ञान नहीं जगा है वहाँ इसकी प्रबलता रहती है। इस आर्तध्यान में जीव श्रम करता है और यह आर्तध्यान पाप का प्रयोग करने में आधार है, आर्तध्यानवश यह जीव पाप का भी प्रयोग करता है। इस आर्तध्यान में नाना संकल्प बसे हुए हैं जिनसे व्याकुलता बनी रहती है। विषयों की तृष्णा उस आर्तध्यान में भीतर पड़ी हुई है। धर्म के आधार का यहाँ कोई काम ही नहीं है। कषायें विशेष भरी हुई हैं। अशान्ति बढ़ती है और पापकर्मों के कारण इनमें असातावेदनीय का बन्ध होता है। यह ध्यान तिर्यञ्च गति में ले जाने वाला है।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ९-३४ ॥

आर्तध्यान के स्वामियों का वर्णन—वह आर्तध्यान अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरत, प्रमत्त-विरत इन जीवों के होता है। याने पहले गुण स्थान से लेकर छठे गुण स्थान तक होता है। विशेषता यह जानना कि छठे गुणस्थान में निदान नाम का आर्तध्यान नहीं होता और रौद्रध्यान भी नहीं होता, इस सूत्र में अविरत शब्द देने से पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक के जीवों का ग्रहण होता है। तो व्रतरहित होने की दृष्टि से ये चारों गुणस्थान समान हैं। यहाँ केवल व्रत के अभाव से ही देखा गया है। तो पहले गुणस्थान में विशेष आर्तध्यान है और जैसे-जैसे ऊपर के गुणस्थान होते गये वैसे-वैसे आर्तध्यान कम होते जायेंगे। जो श्रावकजन हैं उनके भी ये चारों आर्तध्यान पाये जाते हैं, क्योंकि उनके परिग्रह का संग है, और इस स्थिति में इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग आदिक होना सुगम ही रहता है। तो ५वें गुणस्थान में एक यह आर्तध्यान चलता रहता है किन्तु निदान हो तो प्रशस्त धर्म सम्बन्धित होता है। जो छठे गुणस्थानवर्ती मुनिजन हैं उनके निदान तो नहीं होता, पर शेष तीन आर्तध्यान होते हैं। सुयोग्य शिष्य चल बसा अथवा गुरुजन चले गए तो उस वियोग में मुनियों को भी कष्ट होता है। कोई शिष्य उद्दण्ड है, शिथिलाचारी है, अनेक बार समझाया जाने पर

भी सुधरता नहीं है तो उसे देखकर भी थोड़ा दु:ख आचार्यों को होता है। तो ऐसा आर्तध्यान मुनियों के भी हो जाता है। यद्यपि वे अनेक परीषहों के विजयी होते हैं किन्तु कदाचित् तीव्र कर्म विपाक होने से कठिन रोग आ जाए सो अनेक मुनिराज तो समतापूर्वक सह लेते हैं, कभी किसी मुनि को उसमें खेद भी होता है। तो ऐसा प्रसंग होने के कारण छठे गुणस्थान में भी ये तीन आर्तध्यान होते हैं। आर्तध्यान प्रमाद स्थिति में ही सम्भव है। जहां अप्रमत्त होगा वहाँ आर्तध्यान नहीं है। प्रमाद का अथ है मोक्षमार्ग में प्रगतिशील न होना और ऐसी कषाय रहना कि जिससे मोक्षमार्ग में वृद्धि न हो सके। उन कषायों को प्रमाद कहते हैं। तो प्रमाद जिनके हैं उनके ही आर्तध्यान सम्भव है। इस प्रकार ध्यान नामक तप के प्रकरण में प्रथम आर्तध्यान का वर्णन किया। अब आगे रौद्र ध्यान का वर्णन किया जा रहा है।

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयो: ॥ ९-३५ ॥

रौद्रध्यानों के लक्षण व स्वामी—हिंसा, झूँठ, चोरी और विषयों का संरक्षण इनके कारण से रौद्रध्यान होता है और वह रौद्रध्यान अविरत अर्थात पहले गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक एवं देश विरत में होता है। यहां प्रथम पद में चार का समास करके फिर अन्त में पंचमी विभक्ति दी है जो हेतु के अर्थ में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ यह बना कि रौद्रध्यान इनके कारण से होता है। हिंसा, झूठ आदिक रौद्र ध्यान की उत्पत्ति में निमित्त होते हैं। और फिर इनके साथ स्मृति सम्बाहार: का सम्बन्ध लगाया गया कि इसके कारण से जो बराबर उस ही में ख्याल जाए तो वह रौद्र ध्यान है। यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती कि इन चार रौद्रध्यानों के स्वामी बताया है अविरत और देशविरत, तो अविरत में रौद्रध्यान हो यह तो ठीक है किन्तु देशविरत गुणस्थान में तो व्रत किया गया है तो व्रती श्रावक के रौद्रध्यान कैसे सम्भव है ? इसके समाधान में कहते हैं कि देशविरत गुणस्थान में चूँकि परिग्रह का सम्बन्ध है। आरम्भ करना पड़ता है तो उन सब परिस्थितियों में किसी समय आरम्भी हिंसा आदि का कुछ आवेश सम्भव है और धन आदिक की रक्षा करना, कमाना आदिक तो उनका कर्तव्य बन गया है। लोकदृष्टि से तो उसके आधीन ही रौद्रध्यान चलता है तो अहिंसा आदिक का आवेश होने से धन आदिक के संरक्षण में एक विवशता होने से कभी देशविरत में भी रौद्रध्यान सम्भव है. लेकिन देशविरत गुणस्थान में होने वाला रौद्रध्यान नरकादिक दुर्गतियों का कारण नहीं बन पाता, क्योंकि वहाँ सम्यग्दर्शन है। सम्यक्त्व में नरकायु का बंध नहीं हुआ करता, इस प्रकार ये चारों रौद्रध्यान अविरत और देशविरत के होते हैं।

संयत आत्माओं के रौद्र ध्यान की असम्भवता व रौद्रध्यान के स्वामियों की विशेषता — अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि संयमी जीवों के रौद्रध्यान क्यों नहीं बताया गया ? किसी समय उनके भी आवेश आ सके तो वहां भी रौद्रध्यान सम्भव हो सकता है। समाधान करते हैं कि संयमीजनों में अगर किसी समय हिंसा आदिक का आवेश आ जाए या किसी धन के संरक्षण अर्जन का अभिप्राय आ जाये तो उनके संयम ही न टिकेगा। सो संयम है तो रौद्रध्यान नहीं है, अगर रौद्रध्यान आता है तो उनके संयम नहीं रह सकता है। जिस ही समय में जीव के रौद्रध्यान हो जायेगा बस फिर संयम नहीं ठहर सकता। तो यह रौद्रध्यान चार प्रकार का है, और वह अधिक कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वालों के सम्भव है। कदाचित् मामूली सा रौद्रध्यान पीतलेश्या वाले श्रावक के भी सम्भव है, पर अत्यन्त कृष्ण, नील, कापोत लेश्या वाला रौद्रध्यान अतीव क्रूर परिणाम में होता है और उसका फल नरक

गति का पाना है। सो जैसे लोहे का गरम पिण्ड पानी को खींच लेता है ऐसे खोंटे ध्यान में परिणत आत्मा कर्मों को ग्रहण कर लेता है। अब जैसे कि पहले कहा था कि अन्त के दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं सो उन ही की संज्ञा भेद वगैरह बताने के लिए आगे सूत्र कहते हैं।

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ९-३९॥

धर्म्यध्यान के विवरण में प्रारम्भिक परिचय—धर्म्यध्यान आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय और संस्थान विचय के लिए होता है। ये चारों धर्मध्यान सम्यग्दृष्टि के होते हैं। इनका बीज सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानीजनों के धर्मध्यान सम्भव नहीं है। यह धर्मध्यान मोह को नष्ट करने वाला है, इसका परिणाम सुख शान्ति है और धर्मध्यान के फल में जीवों का उत्पाद वैमानिक देवों में होता है। यहां विचय शब्द का अर्थ विचार करना, विवेक करना है। आज्ञा आदिक के विचार के लिए जो स्मृति समन्वाहारः है अर्थात चिन्तन की धारा है वह धर्मध्यान है। इस सूत्र में दो पद हैं। प्रथम पद में पहले आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इन चार शब्दों का द्वन्द्व समास है, फिर उनका विचय इस अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष समास है और इस पद के अन्त में चतुर्थी विभक्ति आयी है जिससे अर्थ बनता है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के विचार के लिये, विवेक के लिए जो स्मृति समन्वाहारः है वह धर्मध्यान कहलाता है। प्रकरण के सामर्थ्य से यहाँ स्मृति समन्वाहारः की अनुवृत्ति की जा रही है। ध्यान का मूल लक्षण कहा था कि एक पदार्थ की ओर मुख्यतया चिन्तन की धारा चलना ध्यान है। सो यह ध्यान का लक्षण सभी ध्यानों में घटित हो रहा है। खोंटे ध्यानों में खोंटे चिन्तन को धारा चलती है और प्रशस्त ध्यानों में अच्छे चिन्तन की धारा चलती है।

आज्ञाविचय धर्म्यध्यान का स्वरूप—अब धर्मध्यान के चार भेदों में से प्रथम आज्ञाविचय धर्मध्यान का लक्षण कहते हैं। आज्ञाविचय के दो प्रकार से अर्थ हैं, प्रथम प्रकार का अर्थ है कि भगवान की आज्ञा को ही प्रमाण मानकर चिन्तन की धारा चलाना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। इसमें कारण यह है कि उपदेष्टा का तो अभाव है, स्वयं मन्द बुद्धि है, पदार्थ की विवेचना सूक्ष्म है, हेतु दृष्टान्त विशेष प्राप्त हो नहीं रहे तो सर्वज्ञ के द्वारा कहे गए आगम को ही प्रमाण माना जाता है। किस प्रकार कि यह तत्त्व यही है, इस ही प्रकार है, जिनेन्द्रदेव अन्यथा नहीं कह सकते हैं, यों गहन पदार्थ तत्त्वों का श्रद्धान होने से अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। दूसरा अर्थ है कि भगवान के कथित तत्त्वों का प्रचार प्रसार करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। जिस भव्य जीव के सम्यग्ज्ञान होने से विशुद्ध परिणाम हो गये हैं, जिसने स्वसमय और परसमय के पदार्थों का निर्णय जान लिया है, जैन दर्शन व अन्य दर्शनों का जिनको अच्छा परिज्ञान है वे पुरुष सर्वज्ञ द्वारा कहे गए सूक्ष्म से सूक्ष्म अस्तिकाय आदिक पदार्थ तत्त्वों का अवधारण कर लेते हैं और अन्य जनों से प्रतिपादन करते हैं। यह तत्त्व ऐसा ही है और कथा मार्ग द्वारा, युक्तियों द्वारा अपने श्रुतज्ञान के बल से इस सिद्धान्त के अनुकूल विवेचन करते हैं सो अन्य जनों को इस जैन शासन के ग्रहण के प्रति सहिष्णु बना देते हैं अर्थात अन्य जन भी मान जायें कि वास्तव में तत्त्व ऐसा ही है। इस प्रकार भगवान की आज्ञा का प्रकाश करना आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है।

अपायविचय धर्म्यध्यान का स्वरूप—अपायविचय धर्मध्यान का लक्षण है कि खुद या परिजन सन्मार्ग से यदि विचलित हो रहे हों तो उसके सम्बन्ध में चिन्तनधारा चलतो कैसे, यह विचलितपना दूर हो, इस प्रकार के ध्यान को अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं। मिथ्यादर्शन के कारण

जिनकी ज्ञानसेना अन्धकार से ढक गई है अर्थात अज्ञान समाया है उनकी प्रवृत्तियाँ अज्ञान से आच्छादित होने से संसार को ही बढ़ाती हैं। जैसे कोई बलवान भी पुरुष हो, जन्म से अन्धा हो और उसे कोई मार्ग भी बताये, पर उस मार्ग पर न चलने के कारण ऊँचे-नीचे कंकरीले पथरीले जंगली मार्ग में वह अपने कदम बढ़ा लेता है और वह भटक जाता है और स्वयं भी अनेक प्रयत्न करता है फिर भी सन्मार्ग नहीं पा सकता। इसी प्रकार सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गए मार्ग से, उनके आदेश से जो विमुख हैं उनको सही मार्ग का ज्ञान नहीं है सो वे सन्मार्ग से भटक ही रहे हैं, सो उनकी यह भटकन कैसे छूटे, इस प्रकार के चिन्तन को अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं। अथवा अपायविचय का दूसरा अर्थ है, जबकि इसका नाम उपायविचय किया जाए कि किस प्रकार रागद्वेषादिक विकारों का विनाश हो, यह ही संसार भ्रमण में कारण है। इस तरह मोक्षमार्ग में प्रगति के उपायों का विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है।

विपाकविचय धर्म्यध्यान के प्रसंग में प्रथम व द्वितीय गुणस्थान वाले जीवों के कर्मविपाक का चिन्तन—विपाकविचय धर्मध्यान। विपाक कहते हैं कर्म के फल का अनुभव करना सो कर्मफल के अनुभव के विवेक के विषय में स्मृति समन्वाहार होना, उपयोग लगना विपाकविचय धर्मध्यान है। ये ज्ञानावरणादिक कर्म इनका फल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से अनुभूत होता है। उन अनुभव के प्रति ध्यान देना कि कर्मफल कैसे कैसे होता है ? उनके उदय में क्या-क्या परिणाम होते हैं, सो वह विपाकविचय धर्मध्यान है। जैसे प्रत्येक गुणस्थानों में कर्मफल के उदय का विचार करना, मिथ्यात्व गुणस्थान में—(१) एकेन्द्रिय जाति, (२) आताप, (३) सूक्ष्म (४) अपर्याप्तक और (५) साधारण इन ५ प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में ही है, आगे नहीं है। यद्यपि दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और स्थावर इन प्रकृतियों का भी उदय मिथ्यात्व गुणस्थान में ही चलता है, पर मिथ्यात्व गुणस्थान में अपर्याप्त दशा में इनका उदय सम्भव है जैसे कि कोई जीव पहले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय था और उसके दूसरे गुणस्थान में ही मरण होकर वह एकेन्द्रिय आदिक में उत्पन्न हुआ तो वहाँ भी अपर्याप्त अवस्था में दूसरा गुणस्थान सम्भव है। लेकिन पर्याप्त अवस्था में तो इन १० प्रकृतियों का उदय मिथ्यात्व में ही है, आगे नहीं चलता। इससे यह जाहिर है कि इन जीवों में न सम्यग्दर्शन था, न हो सकता है। ये अवस्थायें बदलें और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय की अवस्था प्राप्त हो तो वहाँ सम्यक्त्व सम्भव है। दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का भी उदय है और पहले गुणस्थान में तो उदय था ही, पर इन चार कषायों का उदय तीसरे आदि गुणस्थान में नहीं होता। द्वितीय गुणस्थान बहुत थोड़े काल के लिये होता है। जिस जीव को सम्यग्दर्शन हो गया। प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो गया उसके प्रथमोपशम सम्यक्त्व तो छूट जाए और मिथ्यात्व गुणस्थान न आ पाये ऐसी जिस किसी जीव की स्थिति हो उसके दूसरा गुणस्थान होता है। सो दूसरे गुणस्थान का समय कम से कम एक समय है। अधिक से अधिक ६ आवली है, ऐसे दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का उदय चल रहा है, इससे आगे इनका उदय नहीं है।

अनुयोगों की पद्धति में कर्म विपाक का चिन्तन—जीव किस परिस्थिति में किस गुणस्थान में किस प्रकार के कर्म विपाक से घिरा हुआ है, यह चिन्तन विपाकविचय में चल रहा है। करणानुयोग प्रक्रिया से यह कर्मविपाक का चिन्तन है। चरणानुयोग प्रक्रिया से कर्मविपाक का चिन्तन संयम ग्रहण नहीं कर सकने और संयम संयमासंयम में दोष लगने के निहारने से चलता है। द्रव्यानुयोग की

दृष्टि से कर्मविपाक चिन्तन एक निमित्त नैमित्तिक भाव के दर्शन और आत्मा के विकार परिणमन को निहार कर चलता है। प्रथमानुयोग की दृष्टि से कैसे-कैसे महापुरुषों ने व अन्य अनेक जीवों ने कर्मविपाक पाया, यह चिन्तनधारा चलती है। जब महापुरुषों के कथानक पढ़ते हैं तो न्यायनीति से रहने वाले महापुरुषों पर भी कब-कब, कैसे-कैसे उपसर्ग होते हैं और उन्हें किस प्रकार कष्ट में पड़ना पड़ता है, यह सब बात समझने को मिलती है और उस पर आश्चर्य होता है कि जो ऐसे न्यायमार्ग पर चल रहे हैं, जिनको उसी भव से मोक्ष भी जाना है उन पर कैसे ये आपत्तियाँ आ रही हैं। पर आश्चर्य यों नहीं कि किसी भी भव में करोड़ों अरबों भवों पहले के बाँधे हुये कर्म उदय में आ सकते हैं और उनके उदय काल में आपत्तियाँ आ जाया करती हैं। तो इन अनेक प्रकारों से कर्मफलों का विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है।

तृतीय व चतुर्थ गुणस्थान में असाधारण कर्मविपाक का चिन्तन—सम्यक मिथ्यात्व प्रकृति का उदय तीसरे गुण स्थान में ही होता है। न पहले होता है न आगे बाद में होता है। सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में जीव का श्रद्धान कुछ अन्य जाति का हो जाता है कि जिसे न सम्यक्त्व कह सकते हैं और न मिथ्यात्व कह सकते हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, नरकायु, देवायु, नरकगति, देवगति, वैक्रियक शरीर अंगोपांग, चारों आनुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति इन १७ कर्म प्रकृतियों का उदय चतुर्थ गुण स्थान तक ही होता है। आगे नहीं। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आगे उदय क्यों नहीं? आगे के गुण स्थान में कैसी स्थिति होती है। जैसे अप्रत्याख्यानावरण का उदय चौथे गुण स्थान तक ही कहा है तो अप्रत्याख्यानावरण का अर्थ है कि जो श्रावक का व्रत न होने दे। ५वाँ गुण स्थान तो श्रावक का है। अगर अप्रत्याख्यानावरण का उदय आगे गुण स्थान में हो तो वहाँ वह गुण स्थान ही नहीं बन सकता। नरकायु, देवायु का उदय चौथे गुण स्थान तक है। इससे यह जाहिर है कि नारकी और देवों में ऐसी योग्यता नहीं है कि वे श्रावक का व्रत भी ग्रहण कर सकें। और चूँकि वैक्रियक शरीर, वैक्रियक अंगोपांग नरकगति और देवगति में ही मिलते हैं। इनका उदय चूँकि इन दो गतियों में ही है और उन्हें चार गुण स्थान से आगे होता नहीं तो आगे के गुण स्थानों में इनका उदय नहीं है।

चतुर्थ गुण स्थान से ऊपर आनुपूर्वी दुर्भग अनादेय अयशः कीर्तिका विपाक न होने के तथ्य—चारों आनुपूर्वी का उदय आगे नहीं है। इससे यह जाहिर होता कि चौथे गुण स्थान के बाद ऊपर के किसी गुण स्थान में साक्षात मरण नहीं हुआ करता अर्थात मरण पहले, दूसरे और चौथे गुण स्थान में हो होता हैं। यद्यपि ५वें आदि गुणस्थानों में ११वें गुणस्थान पर्यन्त मरण बताया गया है, पर उसका अर्थ यह है कि इन गुणस्थानों में रहने वाला भव्य पुरुष मरण करता है तो मरण के प्रथम समय में ही चतुर्थ गुण स्थान हो जाता है। वहाँ तीसरे गुण स्थान में मरण नहीं कहा। तो वहाँ यह अर्थ है कि तीसरा गुण स्थान जब तक है तब तक तो मरण है हो नहीं, पर मरण काल में तीसरा गुण स्थान बदलकर पहले चौथा होगा। पर वहाँ भी कुछ समय और ठहरकर मरण होगा। बदलते ही प्रथम समय में मरण नहीं होता, इस कारण दृढ़ता के साथ मरण का निषेध दूसरे गुणस्थान में किया गया है। दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति इनका भी उदय ऊपर के गुण स्थानों में नहीं है। इस प्रकार यह जाहिर हुआ कि व्रती पुरुष सबके प्रिय होते हैं और उनका

अपयश नहीं फैलता। हाँ अज्ञानी जीव तो तीर्थंकरों का भी अपयश करते हैं, पर ज्ञानी पुरुषों में इनका अपयश नहीं हुआ करता।

पञ्चम गुण स्थान तक ही उदित होने वाले कर्म विपाक का निर्देशन—विपाक विचय नाम के धर्मध्यान में यह निरखा जा रहा है कि किस गुण स्थान में किस ढंग का कर्मोदय होता है। यद्यपि उदय अनेक प्रकृतियों का है फिर भी जिन स्थानों तक जो कर्म प्रकृति उदित होती है उस ढंग से वर्णन चल रहा है। देशविरत गुण स्थान तक प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यञ्चायु, तिर्यञ्चगति, ऊद्योत, नीचगोत्र, इन ८ कर्म प्रकृतियों का विपाक होता है। इससे ऊपर के गुणस्थानों में इन प्रकृतियों का फल नहीं है। इस कथन से यह प्रकट हुआ है कि तिर्यञ्च में ५ ही गुण स्थान हैं, इससे ऊपर के गुण स्थानों में न तिर्यञ्चायु का फल है, न तिर्यंचगति का फल है और तिर्यंच में ही उद्योत का फल सम्भव है सो वह भी आगे नहीं होता। नीच गोत्र भी ५वें गुण स्थान से ऊपर नहीं होता। तिर्यंचों में सबके नीच गोत्र पाया जाता है। मनुष्य में किसी के नीच गोत्र है किसी के उच्च गोत्र है। जिन मनुष्यों के नीच गोत्र का उदय है वे छठे गुण स्थान में नहीं पहुँच सकते। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ भी ५वें गुण स्थान तक ही उदित है, क्योंकि इस कषाय का फल है संयम न होने देना। छठे गुण स्थान में संयम है। सकल चारित्र है। इस प्रकार इन प्रकृतियों का उदय पञ्चम गुण स्थान तक ही है, इससे ऊपर नहीं।

छठे व ७वें गुण स्थान तक ही उदित होने वाले कर्म विपाक का निर्देशन—छठे गुण स्थान में जिनके आहारक शरीर की रचना नहीं है उनके निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि इन ३ कर्म प्रकृतियों का फलानुभव है। जिन जीवों के आहारक शरीर की रचना चल रही है उनके नींद आदिक सम्भव नहीं है। उस समय इनके फलानुभव नहीं होता, उनके आहारक शरीर और अंगोपांग नामकर्म का उदय है। इन दो प्रकृतियों का उदय केवल छठे गुण स्थान में ही है। न ऊपर है न नीचे। वेदक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय अर्थात दर्शन मोहनीय के भेदों में जो सम्यक्त्व प्रकृति है उसका उदय चौथे गुण स्थान से लेकर ७वें गुण स्थान तक ही है। चौथे गुण स्थान से पहले सम्यक प्रकृति का उदय नहीं है, क्योंकि सम्यक प्रकृति का उदय सम्यग्दृष्टि के ही होता। जिनके क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अर्थात सम्यक्त्व प्रकृति का उदय जिनके है वे श्रेणी में नहीं चढ़ सकते इस कारण इस प्रकृति का उदय ७वें गुण स्थान तक तक ही होता है। अर्द्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन, असम्प्राप्त श्रीपाटका संहनन याने अन्तिम ३ प्रकृतियों का उदय ७वें गुण स्थान तक ही है, ऊपर नहीं है। इससे यह सिद्ध होता कि हीन संहनन वाले मुनि श्रेणी में नहीं चढ़ सकते।

अष्टम, नवम, दशम, एकादशतम गुण स्थान तक उदित कर्मविपाक का निर्देशन—हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन ६ कर्मप्रकृतियों का फलानुभव ८वें गुण स्थान के अन्तिम समय तक हैं, इससे ऊपर नहीं। ३ वेद और संज्वलन क्रोध, मान, माया इनका उदय ९वें गुण स्थान तक ही है, ऊपर नहीं है. इन ३ वेदों का और संज्वलन की ३ कषायों का जो उदय विच्छेद है सो वह एक साथ नहीं है किन्तु अनिवृत्तिकरण के ७ भागों में प्रत्येक एक-एक भाग में है याने क्रम से है। जैसे पहले नपुंसक वेद का उदय विच्छेद, फिर स्त्री वेद का, फिर पुरुष वेद का एक मुनि के एक ही वेद का उदय होता, यह कथन सामान्यालाप से है। वेदों के उदय विच्छेद में थोड़ा बदला हुआ क्रम भी

हो सकता। कोई स्त्री वेद के उदय में श्रेणी माड़ रहा है तो उसके नपुंसक वेद आदिक वेद पहले नष्ट हो जायेंगे, फिर कोई नपुंसक वेद के उदय में श्रेणि माड़ रहा है तो उसके स्त्रीवेद पहले नष्ट हो जाता है। वेद नष्ट होने के बाद संज्वलन क्रोध, फिर संज्वलनमान, फिर संज्वलन माया का उदय खतम होता है। संज्वलन लोभ का फल १०वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक है उसके ऊपर नहीं है। बज्रनाराच और नाराच संहनन का उदय ११वें गुणस्थान तक है, ऊपर नहीं है। इससे यह बात विदित हुई कि पूर्व के जो तीन संहनन हैं उनमें श्रेणी तो चढ़ी गई, पर जिनके दूसरा और तीसरा संहनन है उनके क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ी सकती। क्षपक श्रेणी बज्रवृषभनाराच संहनन वाले के ही चढ़ी जा सकती है, क्योंकि उसे ही मुक्त होना है।

बारहवें तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान तक उदित होने वाले कर्म विपाक का निर्देशन—निद्रा और प्रचला का उदय १२वें गुणस्थान के उपान्त्य समय तक है, इससे ऊपर नहीं, और ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय इनका उदय १२वें गुणस्थान के अन्त समय तक है, इससे ऊपर नहीं, क्योंकि १३वें गुणस्थान में यह केवली भगवान बनेगा, तो वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय ये भी न रहने चाहिएँ। मोहनीय तो १०वें गुणस्थान तक खतम हो जाता है, पर शेष घातिया कर्म भी तो न रहने चाहिये, सो ये १२वें गुणस्थान में खतम हो जाते हैं। अब १३वें गुणस्थान में इनके अन्त समय तक जिन-जिन प्रकृतियों का उदय चलता है वे प्रकृतियाँ ये हैं कोई भी एक वेदनीय औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्माणशरीर, छहों संस्थान और औदारिक शरीरांगोपांग, बज्रवृषभनाराच संहनन, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त और अप्रशस्त, विहायोगति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुवर, दुस्वर और निर्माण नामकर्म। इन ३० प्रकृतियों का उदय सयोग केवली के अन्तिम समय तक , इससे आगे नहीं है। इसके उदय विच्छेद से यह विदित हो रहा है कि भले ही १४वें गुणस्थान में शरीर है, पर वह शरीर क्या शरीर है, शरीर प्रकृति का वहाँ उदय ही नहीं है। अब वह सिद्ध होने वाले हैं इस कारण शरीर में जो शरीर की शरीरता रूपी जान है वह सब यहीं से समाप्त हुई है, क्योंकि अब थोड़ी ही देर में शरीररहित होना है इस जीव को। १४वें गुणस्थान के अन्तिम समय में इन प्रकृतियों का उदय है, ऊपर नहीं है। वे ये हैं—कोई एक वेदनीय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, त्रस, वादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय, यश कीर्ति उच्चगोत्र इन ११ प्रकृतियों का उदय १४वें गुणस्थान के अन्त समय तक, क्योंकि तभी तक मनुष्यायु है। उस मनुष्यायु के उदय से निकट सम्बन्ध जिनका है उनका भी उदय यहाँ तक है। तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति का उदय सयोग केवली और अयोग केवली नाम के दो गुणस्थानों में है। इससे ऊपर नहीं है और न नीचे है। इस प्रकार कर्मविपाक का चिन्तवन करना, एकाग्र ध्यान करना सो विपाक विचय नाम का धर्मध्यान है।

उदीरित कर्मविपाक का निर्देशन—फल का अनुभवन प्रकृतियों के उदय काल में होता है और उदीरणा के काल में भी होता है। उदीरणा नाम है उस फलानुभव का जो समय से पहले होने लगता है। जैसे आम के पेड़ में आम के फल लगे हैं वे फल डाल पर ही पककर केवल आयु क्षय की प्रेरणा से वें नीचे गिरे तो उसे कहते हैं उदय काल, अपने उदय पर वे फल झड़े और उन पर कोई डंडा मारे या पत्थर मारे या हाथ से ही तोड़कर नीचे गिरा ले और फिर उन्हें पाल में रखकर पका ले तो पक तो जायेंगे पर यह कहलायेगा समय से पहले पकना, ऐसे ही जिन प्रकृतियों की जितनी

स्थिति है इससे पहले की प्रकृति का फल मिलने लगे तो वह उदीरणा है, सो यह उदीरणा करीब-करीब उदय की तरह है अर्थात जिस गुणस्थान में जिस कर्म प्रकृति का उदय है वैसी उदीरणा भी सम्भव है, पर कुछ विशेषताएं हैं, वे बहुत थोड़ी हैं, जैसे—मिथ्यादर्शन की उदीरणा मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही होती है, जैसा कि उदय होता है, पर यह उदीरणा उपशम सम्यक्त्व के सम्मुख हुए भव्य आत्मा के अन्तिम आवली छोड़कर इससे निकट पहले होती है। ऐसे ही कुछ अन्य प्रकृतियों में भी विशेषता है, किन्तु यह अन्तर बहुत कम प्रकृतियों में पाया जाता है। तो इस प्रकार उदीरणा विषयक चिन्तन भी विपाक विचय धर्मध्यान है।

संस्थानविचय नामक धर्म्यध्यान—अब सस्थानविचय धर्मध्यान का स्वरूप कहते हैं। संस्थान नाम है ढाँचे का। लोक का संस्थान पहले बताया गया था। ३४३ घनराजू प्रमाण है और पैर फैले हुये कमर पर हाथ रखे हुये मनुष्य के आकार की तरह है। जैसे ७ मनुष्य बराबर कद के इस तरह एक के पीछे एक खड़े हों पैर फैलाकर, कमर पर हाथ रखकर तो लोक की रचना का उत्तर बन जाता है। सामने वो नीचे ७ राजू हैं, कमर पर एक राजू है। ऊपर चलकर हाथ की हथेलियों तक वह लोक ५ राजू है और सबसे ऊपर एक राजू है मगर पीछे की ओर सर्वत्र ७-७ राजू है। इतने बड़े लोक में ठीक बीचोबीच जैसा कि चौथा आदमी उस तरह का ठीक बीचोबीच एक राजू प्रमाण चौकोर, चारों ओर से एक त्रस नाली है, त्रस जीव वहाँ ही रहते हैं बाहर नहीं। भले ही मरण समुद्घात की स्थिति में उसके प्रदेश दूर चले जायें और त्रस नामकर्म का उदय है इसलिए कुछ छू गए, पर साधारणतया तो सभी त्रस त्रस नाली में ही रहते हैं। ऐसा उस लोक के आकार का और उसके अवयवभूत द्वीप सागर आदिक का विस्तार आदिक ध्यान में रखना। उनके स्वभाव को जानना उसका ही स्मृति समन्वाहार: होना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

धर्म्यध्यान के स्वामी—चारों ही धर्मध्यान उत्तम क्षमा आदिक १० धर्मों से ओतप्रोत होने के कारण धर्मध्यान कहलाते हैं अर्थात धर्म के विषय में होने वाला ध्यान। इस धर्मध्यान में भी चिन्तन चल रहा है और बाहर अनुप्रेक्षाओं में भी चिन्तन चलता है। सो १२ अनुप्रेक्षाओं में जो बराबर चिन्तनधारा रहती है तो वह ज्ञानरूप है, पर जब उनमें एकाग्रचिन्तानिरोध होकर वह चिन्तनधारा किसी एक विषय में केन्द्रित हो जाती है तब वह ध्यान कहलाता है। यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर ७वें गुणस्थान तक कहा गया है, क्योंकि धर्मध्यान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है। और सम्यग्दर्शन अविरत सम्यग्दृष्टि को है सो चौथे, ५वें, छठे और ७वें इन चार गुणस्थानों में धर्म-ध्यान होता है। ७वें से ऊपर धर्मध्यान नहीं है, किन्तु ८वें से लेकर १२वें गुणस्थान तक शुक्लध्यान चलता है। श्रेणियों में शुक्लध्यान ही हुआ करता है, धर्मध्यान नहीं। अब यहां धर्मध्यान के स्वामी तो बता दिए गए, पर शुक्लध्यान के कौन स्वामी हैं, यह अगले दो सूत्रों में कहेंगे जिनमें पहला सूत्र यह है।

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥ ९-३७ ॥

आदिम दो शुक्लध्यानों के स्वामी का निर्देश—आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद के अर्थात श्रुतकेवली के होते हैं। यह शुक्लध्यान श्रुतकेवली के है। इस कथन से यद्यपि एक प्रसंग में विरोध आता है, जहाँ यह कहा गया कि अष्ट प्रवचन मात्रिका का ज्ञान हो जिस मुनि के अर्थात विशेष ज्ञान नहीं है, पर प्रायोजनिक ज्ञान है थोड़ा, तो वह मुनि भी मोक्ष जा सकता है, किन्तु यहाँ कह रहे हैं

कि शुरु-शुरु के दो शुक्लध्यान श्रुतकेवली के होते हैं तो फिर कैसे वे मोक्ष गए ? तो इस विषय में यह जाहिर होता है कि जो मुनि श्रेणी मारने से पहले श्रुतकेवली हैं उनके विषय में तो यह प्रसिद्ध है कि वे श्रुतकेवली हैं और मोक्ष गए, पर जिन मुनियों के श्रेणियों से पहले श्रुतकेवलीपना नहीं है, थोड़ा ही ज्ञान है, आठ प्रवचनमाता का ही ज्ञान है तो वह भी श्रेणी मारता है और श्रेणी में जो ध्यान बढ़ता है उसके प्रताप से श्रुत ज्ञानावरण में शिथिलता और निर्जरा तो होती ही है, तो उनके पूर्ण श्रुतज्ञान पैदा हो जाता है, पर वह समय बहुत थोड़ा है और उसके बाद उनके कोई व्यवहार भी नहीं होता है। श्रेणी की, समाधि की, और केवल ज्ञान हो जायेगा इसलिए यह जाहिर नहीं हो पाता कि उनके भी पूर्ण श्रुत ज्ञान हो जाया करता है। इस प्रकार श्रुतकेवली के आदि में दो शुक्लध्यान बताये गये हैं। इस सूत्र में च शब्द भी आया है, जिससे यह प्रकट होता है कि श्रुतकेवलो के धर्मध्यान भी होता है, किन्तु यह धर्मध्यान श्रेणी से पहले है। श्रुतकेवलो तो पहले भो रहता है, पर श्रेणी में जो भव्य आत्मा है उसके धर्मध्यान नहीं, किन्तु शुक्लध्यान ही है अब अन्तिम दो शुक्लध्यानों का स्वामी बतलाते हैं।

परे केवलिनः ॥ ६-३८ ॥

अन्तिम दो शुक्लध्यानों के आधार का निर्देश—अन्त के दो शुक्लध्यान केवली भगवान के होते हैं, छद्मस्थों के नहीं। केवली का अर्थ है जो केवल रह गए, जिसका ज्ञान केवल है उसके साथ रागाद्वेषादिक नहीं, कोई कमजोरी नहीं, अचिन्त्यविभूतिवान हैं। ऐसे केवलज्ञान साम्राज्य के स्वामी सयोगकेवली और अयोगकेवली हैं, इनके अन्त के दो शुक्लध्यान होते हैं। भगवान के ध्यान होता है यह कथन उपचार से है क्योंकि वहाँ मन का प्रयोग है ही नहीं। केवली भगवान के भावमन नहीं कहा गया है। फिर ध्यान कैसे ? वास्तव में उनके ध्यान नहीं है लेकिन ध्यान का फल है निर्जरा और यह बात होती है १२वें गुणस्थान तक। सो इन केवली भगवान के भी कर्म की निर्जरा और कर्म का क्षय देखकर कहा जाता है कि इनके ध्यान भी है। १३वें गुणस्थान में पूरे काल में ध्यान नहीं कहा गया, वहाँ तो सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान कहा गया है। सो वह बिल्कुल अन्त में होता है। जब भगवान के चार अघातिया कर्म एक समान स्थिति के हो जाते हैं उस समय अन्य सब काय योग मिट गए, वादर काय योग भी नहीं रहा, सिर्फ सूक्ष्म काययोग है, उस समय सूक्ष्म काययोग के विनाश के लिये अनेक प्रकृतियों की विशेष निर्जरा के लिए यह ध्यान होता है। १४वें गुणस्थान में अन्तिम शुक्लध्यान कहा है, उसका अर्थ ध्यान नहीं है किन्तु योग न रहा और कोई सा भी आश्रव नहीं होता, और सभी प्रकृतियां अब नष्ट हो जायेंगी, इन प्रकृतियों को देखकर १४वें गुण- में ध्यान कहा गया है।

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातीव्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ६-३६ ॥

शुक्लध्यान के चार प्रकारों का कथन—इस सूत्र में शुक्लध्यान के भेदों का निर्देश किया है। शुक्लध्यान चार प्रकार का है–(१) पृथक्त्ववितर्कवीचार, (२) एकत्ववितर्क अवीचार, (३) सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और, (४) व्युपरत क्रिया निवर्ति। तो चार के लक्षणों का संकेत आगे के सूत्रों में किया जायेगा पर शब्दों के अनुसार साधारणतया यह समझ लेना कि जो ध्यान पृथक्-पृथक् विषयों का ध्यान करे, पर करे एक ही पदार्थ के सम्बन्ध में और पृथक्-पृथक् योगों में रहकर करे, पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा करे तो वह प्रथम शुक्लध्यान है। जो ध्यान एक ही विषय पर ध्यान लगाये और

उसमें शब्दों का भी परिवर्तन न रहे। योगों का भी परिवर्तन न रहे तो वह कहलाता है द्वितीय शुक्लध्यान। जब अरहंत भगवान के सूक्ष्म काययोग रह जाता है अन्तिम क्षणों में उस समय सूक्ष्म काययोग के विनाश के लिए जो ध्यान होता है वह तीसरा शुक्लध्यान है और जब योग रहता ही नहीं है १४वें गुणस्थान में तो वहाँ चौथा शुक्लध्यान कहा जाता है। अब जो यह चार प्रकार का शुक्लध्यान है सो यह किस जीव के होता है, किस आलम्बन से होता है, इसका वर्णन करने के लिये सूत्र कहते हैं।

त्र्येकयोग काययोगायोगानाम् ॥ ९-४० ॥

चार शुक्लध्यान के स्वामियों का कथन—प्रथम शुक्लध्यान तीन योग वाले के होता है। होता है श्रेणी में ही, पर ८वें गुणस्थान से होता है। ११वें गुणस्थान तक यह शुक्लध्यान होता है इसमें योग बदलते रहते हैं। इसलिये तीन योग काले के होते हैं यह बताया है १२वें गुणस्थान में भी प्रारम्भ के समय तीन योग वाले जीव रहते हैं और उसके यह प्रथम शुक्लध्यान पाया जाता है, पर अल्प समय ही बाद इस ही १२वें गुणस्थान में दूसरा शुक्लध्यान हो जाता है। द्वितीय शुक्लध्यान एक योग वाले जीव के होता है। अब वह योग कोई सा भी हो, मनोयोग, वचनयोग, काययोग इनमें से किसी भी योग में वह क्षीणमोह भव्य आत्मा रह रहा तो तो वहाँ द्वितीय शुक्लध्यान है तीसरा शुक्लध्यान होता है काययोगियों के जिनके सिर्फ सूक्ष्म काययोग रह गया है। ऐसे १३वें गुण-स्थान के अन्त में तीसरा शुक्लध्यान होता है। चौथा शुक्लध्यान योगरहित १४वें गुणस्थानवर्ती जीवों के होता है। अब उन चार ध्यानों में से प्रथम शुक्लध्यान का विशेष परिचय कराने के लिए सूत्र कहते हैं।

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ९-४१ ॥

प्रथम दो शुक्लध्यानों की विशेषतायें—पूर्व के दो शुक्लध्यान एक पदार्थ के आश्रय होते हैं किन्तु वितर्क और वीचार सहित होते हैं। सामान्यतया दोनों शुक्लस्थानों का संकेत किया गया है, पर दूसरे शुक्लध्यान में वीचार न हो तो परिवर्तन नहीं होता कि योग बदल जाए या शब्द बदल बदल जाये या विषय बदल जाये। तो यह बताने के लिए आगे सूत्र कहा जाएगा पर अन्य बातें सब समान होती हैं। इस कारण इस सूत्र में दोनों शुक्लध्यानों का संकेत किया है। पहले के दोनों ही श्रुतज्ञान पूर्वचित उन जीवों के द्वारा प्रारम्भ किया जाता है। इस कारण एक आश्रय शब्द दिया है अर्थात दोनों के स्वामी एक समान होते हैं, परिपूर्ण श्रुतज्ञानी होते हैं। इस सूत्र में द्वितीय पद है सवितर्क वीचार। यहाँ वितर्क का अर्थ है विशेष परिज्ञान, तर्कणा श्रुतज्ञान और वीचार का अर्थ है परिवर्तन। तो ये दोनों शुक्लध्यान तर्क और परिवर्तन सहित हैं। दूसरा शुक्लध्यान परिवर्तनरहित है, यह सिद्ध करने के लिए आगे सूत्र कहा जायेगा। इस सूत्र में तीसरा पद है पूर्वे, यह प्रथम विभक्ति के दो वचन में है, जिससे पहले के दो शुक्लध्यान, यह अर्थ होता है। वहाँ पूर्व तो एक ही होता है लेकिन द्विवचन होने से दोनों शुक्लध्यानों का ग्रहण हुआ, अब द्वितीय शुक्लध्यान में परिवर्तन नहीं होता यह विशेष बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं।

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ९-४२ ॥

द्वितीय शुक्लध्यान की वीचाररहितता की घोषणा—दूसरा शुक्लध्यान परिवर्तनरहित होता है। इससे पूर्व सूत्र में दोनों शुक्लध्यानों की विशेषता कही गई थी। तो सूत्र रचना की पद्धति

में इस तरह वर्णन होता व लघुता करने के लिए। अर्थात अधिक न बोलना पड़े। कम से कम शब्द रखने पड़ें। इस पद्धति में पहले सबका वर्णन हो जाता है, जो एक समान हो, फिर यदि उनमें कोई विशेषता होती है तो अलग से सूत्र कह दिया जाता है। तो इस सूत्र से यह बात स्पष्ट हो गई कि पहला शुक्ल ध्यान तो वितर्क और वीचार सहित होता है, किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वितर्क सहित तो होता है पर उसमें परिवर्तन नहीं होता। परिपूर्ण श्रुतज्ञानी प्रथम शुक्लध्यान के बाद किसी एक पदार्थ के एक विषय में ही एकाग्रता से ध्यान में लीन हो जाता है और वह जिस योग में रहते हुए ध्यानस्थ होता है उसी योग में ही रहता है और उसके बाद केवल ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार जिन अन्तर्जल्प के शब्दों में ध्यान चलता है उन शब्दों का परिवर्तन नहीं होता और द्वितीय शुक्ल ध्यान हुए बाद केवल ज्ञान हो जाता है। अब वितर्क और वीचार में क्या अन्तर है यह बताने के लिए सूत्र कहते हैं।

वितर्कः श्रुतम् ॥ ६—४३ ॥

विशेष रूप से तर्क करना, चिन्तन करना वितर्क कहलाता है अर्थात वह श्रुत ज्ञान है। वितर्क में पदार्थ के सम्बन्ध में विशेष और सूक्ष्म रूप से ज्ञान चलता है। एकाग्रचित्त होकर एक विषय में जो विशेष सूक्ष्म गुण पर्याय आदिक का निरीक्षण चलता है उसकी अवस्था, उसका अविभाग प्रतिच्छेद, उनके अनुभाग आदिक के विषय में जो ध्यान बनता है वह सब वितर्क है। ऐसे वितर्क शुक्ल ध्यान से पहले धर्म ध्यान में न रहा अथवा धर्म ध्यान में राग साथ चलता था, अब यहाँ मुनि राग द्वेषरहित हुआ है और राग की लपेट न होने से उसके विशुद्ध ध्यान बन रहा है। यद्यपि राग में १०वें गुण स्थान तक कहा गया है, किन्तु श्रेणी में होने वाला राग बिल्कुल अव्यक्त है। बुद्धि में नहीं आता और न उसके प्रभाव में, ज्ञानधारा में अन्तर आता, पर जो उस वितर्क के साथ परिवर्तन चलता है वह परिवर्तन ज्ञान की निर्बलता से चल रहा है क्योंकि वह क्षायोपशमिक ज्ञान है और धर्मध्यान के अनन्तर ही हुआ है ऐसा वितर्क का पूर्ण अभ्यास नहीं हो पाया है सो प्रथम शुक्लध्यान में वीचार अर्थात परिवर्तन चलता है फिर भी वितर्क धर्मध्यान के चिन्तन से विशेष बलवान है। अब वहाँ जिज्ञासा होती है कि वितर्क का तो लक्षण कह दिया, पर वीचार का क्या लक्षण है? तो उसके उत्तर में सूत्र कहते हैं।

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ६—४४ ॥

वीचार का विवरण—अर्थ वचन और योग इनके परिवर्तन को वीचार कहते हैं। अर्थ तो हुआ ध्येय, जिसका ध्यान किया जा रहा है द्रव्य हो अथवा पर्याय हो और व्यञ्जन कहलाता है वचन। जो ध्यान के साथ भीतर में अन्तः शब्द रचना चल रही है वह है वचन और योग है मन, वचन, काय का कर्म। सो इन तीनों में परिवर्तन होना वीचार कहलाता है। जैसा प्रथम शुक्लध्यान वाला द्रव्य का चिन्तन कर रहा था। अब उस ही पदार्थ के विषय में द्रव्य से हटकर पर्याय का चिन्तन करने लगा। यद्यपि पर्याय कोई अलग वस्तु नहीं है। द्रव्य ही परिणमन है, पर ध्रुवपना आदिक दृष्टियों से विचार करना कि यह तो द्रव्य का चिन्तन कहलाता है और पर्यायमुखेन उसी पदार्थ का चिन्तन करना पर्याय का चिन्तन कहलाता है। तो द्रव्य को छोड़कर पर्याय को प्राप्त हुआ ध्यान और पर्याय को छोड़कर द्रव्य को प्राप्त हुआ, ऐसे ध्यान में पदार्थ का परिवर्तन कहलाता है। इसी प्रकार जिस श्रुत वचन का ध्यान कर रहे थे उस वचन से बदल कर अन्य वचनों का आलम्बन

किया गया, फिर उनको भी बदल कर अन्य वचनों के सहारे ध्यान बनाया तो यह व्यञ्जन संक्रान्ति कहलाता है। योगसंक्रांति काययोग को छोड़कर अन्य योग को ग्रहण किया, अन्य योग को छोड़कर काययोग को ग्रहण किया इसी तरह उन तीन योगों में योग का पलटन होता रहना योग संक्रांति कहलाता है। इस प्रकार अर्थ व्यञ्जन योग में परिवर्तन होना वीचार कहलाता है।

आत्मविश्वास सहित एकांत स्थान में क्षमतासहित ध्यान करने का अनुदेश—उक्त प्रकार सामान्य और विशेष रूप से कहा गया यह धर्मध्यान और शुक्लध्यान यह पहले कहे गये गुप्ति आदिक अनेक प्रकार के उपायभूत है। सो ये ध्यान क्यों ध्याये जाते हैं और कौन ध्याता है? सो ये संसार परिभ्रमण के दूर करने के लिये ध्याये जाते हैं और इनका मुनिजन ध्यान करते हैं। इस ध्यान का प्रारम्भ करने के लिए कुछ तैयारी अपेक्षित होती है। उत्तम शरीर संहनन होने पर भी परीषह में आयी हुई बाधा को सहन करने की शक्ति आत्मविश्वास हुए बिना नहीं प्रकट हो सकती और जब तक आत्मविश्वास नहीं, परीषह सहने की क्षमता नहीं तब तक ध्यान साधना नहीं हो सकती। इस कारण ध्यान की सिद्धि के लिए कोई विशेष तैयारी अपेक्षित होती है। अन्य लोग भी तो प्राणायाम, आसन आदिक अंगों के द्वारा समाधि और ध्यान की सिद्धि कहते हैं। सो अन्यत्र तो ऐसी शरीर चेष्टा पर ही विशेष ध्यान होता है किन्तु जैन शासन की प्रक्रिया में तत्त्वचिंतन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। वह तत्त्वचिंतन किसी विशेष तैयारी पूर्वक चलता है। तो वह तैयारी क्या है, उसके विषय में कुछ वर्णन किया जाता है। मुनि किसी एकांत स्थान में अपना ध्यान बनाये हैं। पर्वत गुफा, पेड़ की खोह, नदी, श्मशान, उजड़ा हुआ बाग, सूना घर किसी भी एकांत स्थान में ध्यान की साधना करे। प्रथम बात तो यह अपेक्षित है। दूसरी बात, वह स्थान बाधाओं से रहित हो। ध्यान में बैठ जाने के बाद किसी सिंहादि क्रूर जीव के द्वारा बाधा आये तो वह तो सही जाती है, पर तैयारी में जानबूझकर किसी बाधा वाले स्थान पर ध्यान नहीं किया जाता है। सो वह स्थान बाधाओं से रहित हो। जैसे सिंह, मृग, पशु-पक्षी, मनुष्यादिक जहां आते जाते न हों, जन्तु-रहित स्थान हो, ठण्ड, गर्मी समान हो, अधिक तेज वायु न हो, वर्षा न हो, गर्मी न हो। ऐसे किसी योग्य स्थान में ध्यान करना चाहिये। भीतर बाहर कोई बाधायें न हों ऐसे पवित्र स्थान पर ध्यान करना चाहिए।

ध्यानयोग्य आसनों में पद्मासन की प्रधानता—तीसरी बात— बड़े आराम से विश्रामसहित पलयंक आसन अथवा पद्मासन से बैठना चाहिए। आसन अनेक हैं, और अनेक आसनों से बैठकर ध्यान किया जा सकता है, पर ध्यान का उपक्रम एक पद्मासन से बैठने पर करने में सुविधा और सफलता होती है। सब आसनों में पद्मासन को क्यों विशेषता दी गई है इसका कारण यह है कि पद्मासन से बैठने पर एक तो कमर की रीढ़ सीधी होती है। दूसरे पद्मासन लगाकर ध्यान करने से ध्यान में सुगमता होती है। तो उसका पहला कारण तो यह है कि पद्मासन से बैठने पर श्वासनली, पीठ हड्डी सब सीधी रहती है जिससे श्वासोच्छ्वास सुगम होता है और पद्मासन में चूँकि पैर की तली और हाथ की तली ये किसी का स्पर्श नहीं कर रहे हैं इस कारण स्पर्श सम्बन्धी बोध नहीं रहता। किसी चीज को जब छूते हैं तो प्रायः हाथ की हथेली से छूते हैं, अपना भी बुखार यदि समझना हो तो अपने ही हाथ की हथेली से छुवेंगे। कोई अपने आप हथेली से छुवे बिना बुखार नहीं जान पाता

कि कितना गर्म शरीर है। तो यह हथेली किसी को छुवे नहीं यह स्थिति पद्मासन में होती है। इस कारण वहाँ व्यग्रता का अवकाश नहीं होता।

ध्यान के लिये पद्मासन से बैठकर निश्चल अवस्थिति होने की प्रशंसनीयता—पद्मासन में बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखकर बैठें और उस समय ऐसी समता की स्थिति हो शरीर में कि नेत्र न तो खुले हुये हों और न बन्द हों, किन्तु अपने आप आँखों की जो स्थिति हो सो रहो, उस समय दाँतों पर दाँत रखकर ध्यान न करें क्योंकि एक यह जान-बूझकर क्रिया हो रही है तो उस क्रिया में उपयोग चला जाएगा। वे स्वयं ही दाँतों के ऊपर दाँत कुछ अन्तर से रहा करते हैं। गम्भीर गर्दन किए हुए हों, प्रसन्न मुख हों, स्थिर दृष्टि हो, निद्रा न हो, आलस्य न हो, किसी प्रकार का रागद्वेष रंज हास्य न हो, किसी बात में ग्लानि न आती हो ऐसे मंद-मंद श्वासोच्छ्वास लेने वाले साधु ध्यान की तैयारी करते हैं। उस ध्यान के समय अपना चित्त भीतर के किसी हिस्से में लगा दें, जैसे नाभि के ऊपर चित्त रखें, हृदय में चित्त रखें, मस्तक में चित्त रखें, याने उपयोग यह मन किसी एक जगह लगाये ऐसा पहले प्रयत्न किया जाता है, फिर ऐसा उपयोग न रखना किन्तु चित्त एकाग्र हो जाए इसके लिए एक ओर चित्त को रखना प्रथम आवश्यक होता है। ऐसा मुनि जो स्थिर आसन से एकान्त में बाधारहित भूमि में बैठा है वह मोक्ष का उपशमकर बड़ी कुशलता से शरीर की क्रियाओं को रोक देता है। निश्चल शरीर रहे, कोई अंग न हिले, उस समय श्वास अपने आप मंद निकलने लगती है।

शुक्लध्यान में सातिशय प्रगति का उत्साह—वह मुनि क्षमाशील होकर निश्चित लक्ष्य में उपयोग देता है वहाँ भी बहिरंग, अन्तरंग पदार्थ का ध्यान करता है, पुद्गल का भी ध्यान करता उसके स्वरूप गुण पर्याय का भी ध्यान करता, आत्म पदार्थ का भी ध्यान करता। कैसा स्वरूप है, कैसी शक्ति है, कैसी पर्याय है इन सबका ध्यान करता है और ऐसे विशेष श्रुतज्ञान से करता है कि कि जिसमें सूक्ष्म चिन्तन चले। एक प्रथम शुक्ल ध्यान में उस पदार्थ के द्रव्य, गुण, पर्याय अंशों का परिवर्तन चलता रहता है, और भीतर जो शब्द उठते हैं उनका भी परिवर्तन है मन, वचन, काय योग का भी परिवर्तन है। लेकिन इस परिवर्तन से वहाँ ध्यान की धारा में अन्तर नहीं हो पाता। वह मुनि अपने भीतरी आत्मबल को बढ़ाता है, मन को उत्साहपूर्वक सबल बनाता है। सो जैसे कोई शस्त्र से वृक्ष को छेदता है ऐसे ही यह प्रथम शुक्ल ध्यान वाला कर्म-प्रकृतियों को छेदता है। तो ऐसा यह मुनि मोह प्रकृतियों का उपशम या क्षय करने वाला है, उसके पृथक्त्व-वितर्क वीचार नाम का शुक्लध्यान होता है। इस शुक्लध्यान का यदि उपशम श्रेणी वाला जीव है तो विनाश होकर वह गिर जाता है। यदि क्षपक श्रेणी वाला जीव है तो दूसरा शुक्लध्यान होता है और तब इस शुक्लध्यान का अभाव हो जाता है।

अविकार अविकल्प अन्तस्तत्त्व के सातिशय ध्यान के प्रसाद से सकल परमात्मत्व की अवस्था का अभ्युदय व सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान से अयोगत्व—एकत्व वितर्क शुक्लध्यानरूपी अग्नि से जिस भव्य आत्मा ने घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है उसके केवल ज्ञान सूर्य प्रकाशमान हो जाता है, इस ही को कहते हैं १३वाँ गुणस्थान। जैसे कि मेघ समूह को भेद कर निकला हुआ सूर्य अपनी किरणों से सर्व ओर भासमान होता है ऐसे ही भगवान तीर्थंकर या अन्य केवली घातिया कर्मरूपी मेघ को भेदकर ऐसा प्रकट होता है कि उनके ज्ञान में लोकालोक त्रिकालवर्ती सर्वपदार्थ प्रति-

भासमान हो जाते हैं। ये सयोग केवली इन्द्रों द्वारा, चक्रवर्तियों द्वारा अभिनन्दनीय हैं, पूज्य हैं, और इनके उपदेश के अनुसार वे इन्द्रादिक अपने भाव बनाते हैं। ये सयोग केवली कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक उपदेश देते रहते हैं। ८४ लाख वर्ष का एक पूर्वांग, ऐसे एक करोड़ पूर्व तक किसी तीर्थंकर की आयु हो सकती है। उस आयु में जितनी जल्दी वे केवली बन जायें उतना समय कम कर दिया गया है, बाकी समय में दिव्यध्वनि के समय उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। यह अधिक से अधिक समय है। जब सयोग केवली भगवान की आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है और वेदनीय नाम गोत्र की स्थिति अधिक रह जाती है तो उस समय इनके केवली समुद्घात होता है, जिसके प्रताप से हजारों वर्षों की स्थिति के तीन कर्मों की आयु आयुकर्म के बराबर हो जाती है। केवली समुद्घात के बाद इनके बादर काययोग नष्ट हो जाता है, तब तक वचनयोग, मनोयोग नष्ट हो ही गए थे, अन्त में बादर काययोग नष्ट हो जाता है। और सूक्ष्म काययोग रह जाता है। उस समय इनके सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान होता है। केवली समुद्घात में यदि कायोत्सर्ग से भगवान स्थित हैं अथवा पद्मासन से स्थित हैं तो जितना उनके शरीर का घेराव है उतने प्रमाण मोटे प्रदेश बनते हैं और ऊपर लोक के अन्त तक और अधोलोक में लोक के नीचे तक फैल जाते हैं, इसे दण्ड समुद्घात कहते हैं। इस दण्ड समुद्घात के अनन्तर ही वे प्रदेश अगल-बगल फैल जाते हैं और कपाट समुद्घात के रूप में हो जाते हैं, फिर आगे पीछे के वे प्रदेश फैलते हैं और कपाट समुद्घात हो जाता है। अनन्तर ही जो वातवलय के स्थान बचे थे उनमें भी प्रदेश फैल जाते हैं तब इस समय लोकपूरण समुद्घात है। इस लोक समुद्घात में लोक के एक-एक प्रदेश पर आत्मा का एक-एक प्रदेश स्थित है। इसके अनन्तर सिकुड़कर प्रतर समुद्घात होता है, फिर सिकुड़कर कपाट समुद्घात होता है और सिकुड़कर दण्ड समुद्घात होता है, इसके अनन्तर शरीर में प्रवेश होता है, इस क्रिया के होने से बढ़े हुए तीन कर्म प्रायः आयु के बराबर होते हैं। जो थोड़ा सा कुछ अन्तर रहता है तो वह स्वयं उसके बाद ही समाप्त हो जाता है। इसके बाद सूक्ष्म काययोग में जब ये सयोग केवली हैं तो वहां योगविनाश के लिये सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती ध्यान होता है।

सकल परमात्मा की सहज ही अयोगी होकर निर्वाण का लाभ—सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान के प्रताप से योग समस्त नष्ट हो जाते हैं तब अयोग केवली भगवान हो जाते हैं। अयोग केवली के व्युपरत क्रियानिवृत्ति नामक ध्यान होता है। सयोग केवली में श्वासोच्छ्वास नहीं, मन, वचन, काय का व्यापार नहीं, कोई भी योग परिस्पंद न होने से यह क्रिया से दूर हो गया है। फिर ये कभी योग में आ न सकें इस कारण इस ध्यान का नाम व्युपरतक्रिया निवृत्ति रखा गया है। इस ध्यान के प्रताप से शेष रहे समस्त सत्त्व का विच्छेद हो जाता है। निराश्रव हो जाता है। और ये १४वें गुणस्थान के समाप्त होते ही सिद्ध भगवान होते हैं। यहाँ सम्पूर्ण यथाख्यात-चारित्र बन जाता है। जब कर्ममलकलंक जल गया तो जैसे सर्वमैल के जल जाने पर स्वर्ण अपने सही स्वरूप में आ जाता है ऐसे ही ये भगवान बाह्य मल के नष्ट होने पर शरीर के पृथक् हो जाने पर जैसा आत्मा का सहज स्वरूप है वैसा ही विकसित हो जाता है। यहाँ तक द्रव्य का का वर्णन चला, जो सम्वर और निर्जरा दोनों का कारणभूत है। अब निर्जरा की विशेषता बतलाते हैं कि किन-किन भव्यात्माओं में निर्जरा कैसे अधिक-अधिक चलती है ?

**सम्यग्दृष्टिश्रावक विरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशम-
कोपशान्तमोहक्षपक क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येय गुण निर्जराः ॥ ९-४५ ॥**

सूत्रोक्त दस स्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा का प्रसंग व उनमें से प्रथम तीन स्थानों में निर्जरा का पुनः निर्देश—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करने वाला, दर्शनमोह का क्षप करने वाला, चारित्र मोह का उपशमन करने वाला, उपशान्तमोह, चारित्र मोह का क्षपण करने वाला, क्षीणमोह तथा जिनेन्द्रदेव ये क्रम से उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा वाले होते हैं। इस सूत्र में सबसे पहले शब्द आया है सम्यग्दृष्टि, और उसके लिये यह बताते हैं कि सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणी निर्जरा करता है, तो यह जिज्ञासा होती है कि किससे असंख्यातगुणो निर्जरा करता है। तो सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहले करणलब्धियाँ होती हैं और उसमें तीसरी करणलब्धि है अनिवृत्तिकरण और इस ही लब्धि के पूर्ण होते ही सम्यक्त्व होता है। तो सम्यग्दृष्टि सम्यक्त्व होने से पहले उसका नाम सम्यग्दृष्टि नहीं है। सातिशय सम्यग्दृष्टि है। पर वह भो पवित्र आत्मा है और वहाँ निर्जरा ही चलती है, वहाँ जितनी यह निर्जरा करता है उससे असख्यातगुणो निर्जरा सम्यग्दृष्टि जीव में है। सम्यग्दृष्टि से असंख्यातगुणी निर्जरा देशसंयम उत्पन्न होने वाले जीव में है। यह श्रावक पंचम गुणस्थान में है, इससे असंख्यातगुणी निर्जरा महाव्रत करने वाले जीव में है।

सम्यक्त्व आदि की निष्पत्ति के लिये होने वाले करणलब्धियों की पृथक्-पृथक् स्थानों में संख्या का निर्देश—यहां यह बात जानना कि सम्यक्त्व उत्पन्न होने में कहीं तान करण होते हैं कहीं दो करण होते हैं। अनादि मिथ्या दृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को करता है, उसके अन्य सम्यक्त्व नहीं होता और वह तीन करणलब्धियों से होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व हुए बाद क्षयोपशम सम्यक्त्व हुआ अथवा प्रथमोपशम सम्यक्त्व छूटकर। कुछ समय अधिक समय न हो। तब तक ७ प्रकृतियों को सत्ता है, ऐसा मिथ्यादृष्टि भी क्षयोपशम सम्यक्त्व करता है। तो यह क्षयोपशम सम्यक्त्व दो करणलब्धियों से उत्पन्न होता है। यहाँ अनिवृत्तिकरण नहीं होता, ऐसे ही महाव्रत दो कारणों से उत्पन्न होता है। वहाँ भी अनवृत्तिकरण नहीं होता। कहीं तीन करण, कहीं दो करण जो बताये गये जा रहे हैं उसमें यह ध्यान होता है कि जो कार्य सबका एक समान नहीं है उसमें तो दो करण होते हैं और जो कार्य सबका एक समान है वहाँ तीन करण होते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सबका समान नहीं होता क्योंकि वहाँ चलमलिन अगढ़ दोष हुआ करते हैं और इस विविधता के कारण क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी नाना स्थानों में पाया जाता है। ऐसे ही श्रावक का व्रत और मुनियों का महाव्रत ये भी सबके समान नहीं होते, इनमें कभी बढ़ती का बहुत अन्तर पाया जाता है। ये भी दो करणों से होते हैं।

विरतभव्यों से उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा के अधिकारी भव्यात्मावों का निर्देश—महाव्रत उत्पन्न करने वाले जीव के जो निर्जरा होती है उससे असख्यातगुणी निर्जरा अनन्तानुबंधी का विसंयोजन करने वाले के होती है। यहाँ निर्जरा होने से तात्पर्य कर्म प्रदेश की निर्जरा से है। सो अनन्तानुबंधी का कोई विसंयोजन करने वाले चौथे गुणस्थान में भी हो तो इस विसंयोजन क्रिया में महाव्रत से भी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। अनन्तानुबंधी के विसंयोजन से असंख्यातगुणी निर्जरा दर्शनमोह का क्षप करने वाले जीव के होती है। दर्शनमोह का क्षप करने वाला जीव क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा चारित्रमोह का उपशमन करने वाले अर्थात उपशम श्रेणी की समाधि में रहने वाले मुनियों के होती है। उससे असंख्यातगुणी निर्जरा उपशान्तमोह अर्थात

११वें गुणस्थान वाले जीव के होती है. उससे असंख्यातगुणी निर्जरा चारित्रमोह का क्षपण करने वाले क्षपक श्रेणी में रहने वाले मुनियों के होती है। ये मुनि ८वें, ९वें, १०वें गुणस्थान के हैं, किन्तु इनकी निर्जरा ११वें गुणस्थान से असंख्यातगुणी है। इन क्षपकों से असंख्यातगुणी निर्जरा क्षीणमोह गुणस्थान वाले जीव के होती है। क्षीणमोह गुणस्थान वाले अर्थात २वें गुणस्थानवर्ती जीव से असंख्यातगुणी निर्जरा केवली भगवान के होती है। असंख्यातगुणी निर्जरा उत्तरोत्तर होते जाने का कारण है परिणाम विशुद्धि की वृद्धि।

वर्तमान उपलब्ध जिनशासन की शरण्यता की उपलब्धि की दुर्लभता—यह जीव अनादिकाल से निगोद में रहा आया, और वहाँ ऐसी मूर्छा रही कि कुछ होश नहीं, केवल कहने मात्र को स्पर्शनइन्द्रियजन्य मति है। सो जैसे मद्य पीने वाले पुरुष के शराब का कुछ नशा उतरे तो अव्यक्त ज्ञान शक्ति प्रकट होती है या जैसे बड़ी निद्रा के हटने पर कुछ ऊँघते ऊँघते भी अल्पस्मृति चलती है अथवा विष से मूर्छित व्यक्ति को विष का वेग कम होने पर कुछ चेतना शुरू होती है अथवा पित्त आदिक विकारों से जो पुरुष मूर्छित हुआ है उसकी मूर्छा हटने पर जैसे कुछ चेतना ही प्रकट होती है ऐसे ही साधारण अर्थात निगोद आदिक एकेन्द्रिय में बार बार जन्म मरण भ्रमण कर करके कभी इस जीव को कुछ चेतना में स्फूर्ति हुई, यों दो इन्द्रिय आदिक पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त त्रस पर्याय मिलती है, फिर भी न चेते तो वहीं एकेन्द्रिय आदिक में परिभ्रमण होने लगता है। यों अनेक बार चढ़ उतर कर नरकादिक गतियों में भी दीर्घकाल तक पञ्चेद्रियपना अनुभव कर एक घुणाक्षर न्याय से मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। घुणाक्षर न्याय क्या है कि जैसे भंवरा आदिक कोई कीड़ा काठ में लग जाए तो काठ को थोड़ा सा छेद देता है जिसे कहते हैं घुन लग गया, और उस घुन में कोई अक्षर बन जाय तो क्या कीड़ा उस तरह अक्षर बनाने के लिये काठ को घुनता है? अरे हो गया कभी, अर्थात दुर्लभ है। ऐसे ही मनुष्य जन्म भी दुर्लभ है, फिर मनुष्य जन्म में भी अनेक बार घूमा, पर और विशेष प्रगति का साधन न मिला। उत्तम देश, उत्तम काल, विशुद्ध परिणाम, प्रतिभा शक्ति आदिक मिलना बहुत दुर्लभ है। ये सब मिले और भीतर आत्मा को उपदेश भी मिला, कुछ इसका चिन्तन मनन भी किया। मगर योग्य उपदेश न मिलने से सन्मार्ग की प्राप्ति न हुई। उपदेश तो बहुतों के मिले पर खोटे तीर्थों में मिथ्या मार्ग में भटक कर वहीं संसार में रुलते रहे। कभी ज्ञानावरणादिक कर्म का क्षयोपशम पाये, क्षयोपशमलब्धि प्रथम लब्धि पाये तो उसके चेतने से विधि पूर्वक विकास होने लगता है और तब इसके परिणाम विशुद्ध होने लगते हैं। विशुद्धलब्धि प्राप्त करके यह देशनालब्धि में प्रगति पाता जाता है।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व से प्रगति का आरम्भ और निर्वाणमें प्रगति की पूर्णता—यह भव्यात्मा समीचीन उपदेश सुनकर ऐसे निर्मल भाव में आता है कि प्रतिबन्धी कर्म कषाय मन्द होने लगते हैं। और यों कभी यह श्रद्धा भी सही पा लेता है। सो सर्वप्रथम इस जीव के प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। जैसेकि कोई गन्दला जल हो और उसमें कतकफली या फिटकरी आदिक डाल दी जाए तो उसका मैल नीचे बैठ जाता है। जल निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व का उपशम होने पर आत्मनिर्मलता हुई, श्रद्धान के अभिमुख हुआ, प्रथमोपशम सम्यक्त्व पाया वह जीव असंख्यातगुणी निर्जरा करता है यह प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि ५ प्रकृतियों के उपशम से हुआ है। इससे सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति की सत्ता न थी, क्योंकि इन दो प्रकृतियों का बंध नहीं हुआ करता

है। तो जैसे ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व हुआ तो उस सम्यक्त्व चक्की के चलने से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन हिस्से हो जाते हैं। कुछ मिथ्यात्व ही रह जाते हैं। कुछ सम्यग्मिथ्यात्व हो जाते हैं, कुछ सम्यक्प्रकृति हो जाते हैं। इसके बाद क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि होते हैं। क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि कभी क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। तो जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि है वह तो बहुत ही अधिक निर्जरा करता है। जैसे कि अभी सूत्र में बताया गया। प्रशम सम्वेग आदिक का धारक है जिनेन्द्र भक्ति जिनके विशिष्ट हैं वे भव्य जीव केवली भगवान के पादमूल में मोह का क्षय करना प्रारम्भ करते हैं। कोई श्रुतकेवली के पादमूल में भी दर्शन मोह का क्षय प्रारम्भ कहते हैं। सो दर्शन मोह के क्षय की समाप्ति इस मनुष्यभव में भी हो सकती है। और कदाचित इस क्रिया के बीच मरण हो जाये तो जिस गति में जायेगा उस गति में भी क्षय की पूर्णता हो जाती है। और यों मिथ्यात्व नष्ट होकर निर्मल क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव शंकादि दोष से रहित है। खोटे शास्त्र से उसकी बुद्धि क्षुब्ध नहीं है। पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप का जाननहार है। प्रवचन वात्सल्य संयम आदिक पवित्र चेष्टाओं में तत्पर है। यह ही जीव अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से संयमासंयम में परिणत होता है और श्रावक कहलाता है। उसके अथवा किसी सम्यग्दृष्टि के विशुद्धि की वृद्धि हो और वह समस्त परिग्रहों से मुक्त होकर निर्ग्रन्थता का अनुभव करता हुआ महाव्रती हो जाता है है तो वहाँ भी असंख्यातगुणी निर्जरा है। फिर महाव्रत होने के बाद की श्रेणियों में चढ़ेगा वहाँ असंख्यातगुणी निर्जरा है। वहाँ से वह केवली होगा, वहाँ असंख्यातगुणी निर्जरा और केवली भगवान अन्त में शेष रहे समस्त कर्मों का क्षय होने पर सिद्ध भगवान हो जाते हैं। तो सम्यक्त्व से लेकर अयोग केवली पर्यन्त किससे किसकी असंख्यातगुणी निर्जरा चलती है यह वर्णन इस सूत्र में किया गया है।

पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ९–४६ ॥

पांच प्रकार के साधक महान आत्माओं में पुलाक और बकुश मुनि के स्वरूप का दिग्दर्शन—निर्ग्रन्थ ५ प्रकार के हो हैं—(१) पुलाक (१) बकुश (३) कुशील (४) निर्ग्रन्थ और (५) स्नातक। (१) पुलाक मुनि वे कहलाते हैं जिनके उत्तर गुण की तो भावना है और व्रतों में भी कभी कहीं परिपूर्णता नहीं हो पाती है वे मुनि पुलाक कहलाते हैं। पुलाक कहते हैं बिना पके धान्य को। जैसे—धान्य धान्य ही है और वह कुछ अच्छी अवस्था में आया है पर अभी परिपूर्ण नहीं पका है ऐसी ही स्थिति पुलाक मुनि की है। तद्गुणों की केवल भावना है पर उत्तर गुणों में विकास नहीं है, और मूल गुणों का तो धारण करते हैं। पर कभी किसी समय मूल गुणों में भी परिपूर्णता नहीं हो पाती वे मुनि पुलाक हैं, ऐसे मुनि भी पूज्य हैं क्योंकि निर्ग्रन्थ दिगम्बर हैं और समिति आदि गुणों का पालन करते हैं, पर साधु कहते ही ही उसे हैं जो साधना करे। साधना करते हुए में कोई दोष भी आ जाते हैं। पर पुलाक मुनि के दोष ऐसे स्थूल नहीं हैं जिनसे मुनि व्रत भंग हो जाये। (२) दूसरे मुनि हैं वकुश—जिनके मूल गुण अखण्डित हैं। उत्तर गुणों में भी प्रवेश है, किन्तु ऐसा ही कुछ संज्वलन कषाय का तीव्र उदय है कि शरीर और उपकरण की सजावट में उनका चित्त रहता है ऋद्धि और यश की कुछ कामना रहती है। सात और गौरव उनमें पाया जाता है, उनके चित्त से परिवारवृत्ति नहीं निकलती है। जिस संघ में रहते हैं वही उनका परिवार जैसा लगता है, अर्थात गुणों में जिनका दोष चलता रहता है इस कारण वे चित्रित हैं ऐसे ये मुनि बकुश मुनि हैं। इनका

मूल गुण पूर्णतया अखण्डित है। भले ही कुछ उत्तर गुणों में दोष आता है और कुछ गौरव, यश आदिक का लगार भी होता है फिर भी ये दिगम्बर हैं और पूज्य हैं।

पंच प्रकार के साधकों में अन्तिम कुशील, निर्ग्रन्थ व स्नातक अध्यात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन—तीसरे मुनि हैं कुशील। कुशील का अर्थ यहाँ खोटा नहीं है, पर निर्ग्रन्थ दिगम्बरता बहुत अधिक ऊँची होना चाहिए उस ओर से यहाँ कुशील नाम रखा गया है। ये दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रति सेवना कुशील और (२) कषाय कुशील। जिनके परिग्रह की कुछ भावना है पर मूल गुण और उत्तर गुण में परिपूर्ण हैं, उत्तर गुणों की विराधना हो जाती है, ऐसे मुनिराज प्रतिसेवना कुशील कहलाते हैं, कषाय कुशील वे मुनि हैं जिनके अन्य कषायें तो सब वश में हो चुकी हैं, पर कभी संज्वलन कषाय जगने से कुछ चेष्टायें हो जाती हैं। जैसे गर्मी के समय में जंघाओं को धोना, मस्तक का प्रच्छालन करना, इस प्रकार की इच्छा जग जाती है ऐसे मुनि कषाय कुशील कहलाते हैं। (४) निर्ग्रन्थ मुनि वे हैं जिनके इतनी मंद कषाय है कि जैसे पानी में खींचो गई रेखा शीघ्र विलीन हो जाती है ऐसे ही जिनका कर्म का उदय बिलकुल अव्यक्त है और जिन्हें अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान और केवल दर्शन प्रकट होने वाला है ऐसे समाधिरत मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। (५) स्नातक अरहत भगवान को कहते हैं। निर्ग्रन्थ दिगम्बर होने से यहां मुनि के भेदों में उनका नाम दिया है फिर भी उनसे कृतकृत्य हैं, चार घातिया कर्मों से रहित हैं, केवल ज्ञानादिक अतिशयों से शोभायमान हैं। शील के परिपूर्ण स्वामी हैं, ऐसे सयोग केवली भगवान स्नातक कहलाते हैं।

पुलाक, बकुश व कुशील मुनिराजों के निर्ग्रन्थपने का व्यपदेश—यहाँ एक प्रश्न होता है कि जैसे गृहस्थों को निर्ग्रन्थ नहीं कहा जाता क्योंकि उनके चारित्र उत्कृष्ट नहीं है, तो इसी प्रकार पुलाक आदिक भी मुनि निर्ग्रन्थ मुनि की अपेक्षा उत्कृष्ट नहीं है, मध्यम जघन्य जैसे भेदों के चारित्र हैं तो उन्हें निर्ग्रन्थ न कहना चाहिए। केवल निर्ग्रन्थ जैसा कि चौथे नम्बर के प्रयोग में कहा है वे हो कहलायेंगे, बाकी मुनि निर्ग्रन्थ नहीं कहला सकते। समाधान—श्रावक में और पुलाक आदिक मुनियों में बहुत अन्तर है। ये सब दिगम्बर हैं और उस साधु मार्ग की साधना में हैं। श्रावक गृहस्थ है, वस्त्र सहित हैं और उसकी क्रियायें और ही प्रकार हैं। एक संज्वलन कषाय के तीव्र मध्यम आदिक भेदों से तीन भेद पड़े हैं, पर इनके प्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं है। सो भले ही निर्ग्रन्थ मुनि की अपेक्षा इनका चारित्र अप्रकृष्ट है, तो भी ये निर्ग्रन्थ ही कहलाते हैं। जैसे कि चारित्र अध्ययन आदिक का भेद होने पर भी सभी ब्राह्मणों को जाति की दृष्टि से ब्राह्मण का व्यवहार होता है इसी प्रकार पुलाक आदिक समस्त मुनियों में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग होता है। संग्रहनय और व्यवहारनय की दृष्टि से कुछ गुणहीन साधुओं में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग सबका संग्रह करने के लिए किया जाता है जैसे णमोकार मंत्र में णमोलोए सव्व साहूणं कहा जाता है, वे सर्व साधु कौन हैं? तो ये ही दिगम्बरों में जो पुलाक वकुश आदिक भेद हैं वे सब भेद वाले साधु ही सब साधुओं में आते हैं, ये सभी मुनि भेषभूषा में समान हैं, सभी दिगम्बर हैं, शस्त्र से रहित हैं, शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं अतएव पुलाक आदिक सभी निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। जैन शासन में निर्ग्रन्थ रूप को प्रमाण माना गया है, तो भले ही कोई निर्ग्रन्थ अपने व्रतों में कुछ थोड़ा हीन रहे तो भी उन मुनियों में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग बनेगा श्रावकों में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग नहीं बन सकता। ऐसा संदेह भी न किया जा सकेगा कि फिर तो जिस चाहे मिथ्यादृष्टि नग्न पुरुष में निर्ग्रन्थ का प्रयोग किया जाने लगेगा। अरे उन मिथ्या-

दृष्टियों में न निश्चय सम्यक्त्व है, न व्यवहार सम्यक्त्व है, सम्यग्दर्शन रहित पुरुषों में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग नहीं होता। जो सम्यग्दर्शन सहित नग्न दिगम्बर हैं वे ही निर्ग्रन्थ व्रती कहलाते हैं। हाँ ये जो भेद किए गए हैं पुलाक बकुश आदिक सो चारित्र गुण का क्रम विकास हो गया, क्रम से वृद्धि किस प्रकार होती है, यह तथ्य दिखाने के लिए इन पुलाक आदिक भेदों की यहाँ चर्चा की गई है, अब इन पुलाक आदिक मुनियों में परस्पर क्या विशेषता है यह बताने के लिए सूत्र कहते हैं।

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ९-४७ ॥

संयम और श्रुत की दृष्टि से पञ्च साधुओं में अन्तर का दिग्दर्शन – पुलाक आदिक मुनियों में संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान के भेदों से यह नाना प्रकार से निरखा जाता है। संयम की दृष्टि से क्या इनमें अन्तर है सो बतलाते हैं। पुलाक, वकुश और प्रतिसेवना कुशील ये मुनि सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमों में मिलेंगे। कषाय कुशील सामायिक और छेदोपस्थापना संयम में तो होते ही हैं, पर इनके परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म साम्पराय भी हो सकेंगे। निर्ग्रन्थ और स्नातक ये दो यथाख्यात संयमी ही होते हैं और इसी कारण ये १०वें गुणस्थान के ऊपर होते हैं। यद्यपि ११वाँ गुणस्थान भी निर्ग्रन्थ है, यथाख्यात संयम वाला है फिर भी तत्काल मोक्ष का पात्र न होने से उसे यह गौण किए हुए हैं। श्रुत की दृष्टि से पुलाक आदिक मुनियों में अन्तर बताते हैं। श्रुत मायने आगम का ज्ञान पुलाक वकुश और प्रतिसेवना कुशील ये १० पूर्व के धारक होते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ ये १४ पूर्व के धारी होते हैं। यहाँ जघन्य से उनका कितना श्रुतज्ञान है यह बतलाते हैं। पुलाक मुनि का जघन्य श्रुतज्ञान आचार वस्तु के ज्ञान तक ही सीमित है। मुनि व्रत में जितने आचरण किए जाते थे उतना उनका ज्ञान चलता है। वकुश कुशील और निर्ग्रन्थ इनका जघन्य श्रुत अष्ट प्रवचन मातृका के ज्ञान तक है। अष्ट प्रवचन मातृका के मायने हैं ५ समिति और ३ गुप्ति। स्नातक केवल ज्ञानी हैं इस कारण वे श्रुत से अतीत हैं।

प्रतिसेवना तीर्थ व लिङ्ग दृष्टि से साधुओं में अन्तर का दिग्दर्शन—सेवना की दृष्टि से इनमें अन्तर बतलाते हैं। पुलाक मुनि के ५ मूल गुण अर्थात महाव्रत और रात्रि भोजन विरति इनमें से किसी एक की विराधना सम्भव है। वह भी विराधना किसी परपुरुष के दबाव से ही सम्भव है वकुश मुनि दो प्रकार के देखे गए हैं—(१) उपकरण वकुश और शरीर वकुश, जिनका उपकरणों में चित्त आसक्त है, जो विचित्र परिग्रह से युक्त हैं, निरन्तर सजे हुये उपकरणों की आकांक्षा रखते हैं, सुन्दर सुडौल कमण्डल अथवा शास्त्र लिखने के साधनभूत कलम आदिक सुन्दर से सुन्दर चाहते हैं सो इन संस्कारों के उपाय बनाने के इच्छुक हैं वे मुनि उपकरण वकुश कहलाते हैं। शरीर वकुश वे हैं जो शरीर के संस्कार की सेवा करते हैं जैसे मैल उतरवा लेना पुछा लेना आदिक। प्रतिसेवना कुशील के मूल गुणों में तो विराधना नहीं होती पर कभी-कभी उत्तर गुणों में विराधना होती है। कषाय कुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक इनकी कभी विराधना नहीं होती। प्रतिसेवना का अर्थ है कुछ विराधना या संस्कार आदिक की चेष्टा। तो उसकी दृष्टि से यहाँ अन्तर बताया गया है। तीर्थ की अपेक्षा इनमें सामान्यतया अन्तर नहीं क्योंकि सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में पुलाक आदिक मुनि होते हैं, पर विशिष्ट तीर्थंकरों का नाम लेकर उस दृष्टि से कहें तो केवल एक नाम का अन्तर है। लिङ्ग की दृष्टि से इनका अन्तर समझने के लिये दो विभाग करना चाहिये—(१) द्रव्यलिङ्ग और (२) भावलिङ्ग। भावलिङ्ग की दृष्टि से ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ लिङ्गी होते हैं, और द्रव्यलिङ्ग की दृष्टि से बाहर चूँकि

सभी का निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष है अतएव अन्तर नहीं है, पर प्रतिसेवना या संस्कार आदिक की दृष्टि से विभाग किए जा सकते हैं।

लेश्या व उपपाद की दृष्टि से साधुओं में अन्तर—लेश्या की दृष्टि से इनमें अन्तर इस प्रकार है—पुलाक मुनि के पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्यायें होती हैं। वकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्यायें हो सकती हैं, पर यहाँ तीन अशुभ लेश्याओं से मतलब केवल ऊपरी है जो कि उनकी चेष्टाओं में दिखता है और भाव दृष्टि से तो पीत, पद्म, शुक्ललेश्या ही मुनिजनों में सम्भव है। कषाय कुशील मुनि के और परिहार विशुद्धि वाले मुनि के अन्त में चार लेश्यायें होती हैं। साधुओं में तीन ही लेश्यायें हैं, पर किसी कारण बाह्य चेष्टा आदिक से उनके विषय में अन्य लेश्याओं की बात कही गई है। सूक्ष्म साम्पराय और निर्ग्रन्थ स्नातकों के सिर्फ शुक्ल लेश्या होती है। सयोग केवली लेश्या रहित होते हैं। उपपाद की दृष्टि से इनके अन्तर देखिये—पुलाक मुनि अधिक से अधिक १२वें स्वर्ग की उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों में उत्पन्न होते हैं। यहाँ उपपाद के मायने हैं अगला जन्म, उस दृष्टि से अन्तर बताया जा रहा है, वकुश और प्रतिसेवना कुशील का जन्म १६वें स्वर्ग तक की उत्कृष्ट स्थिति में होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ का सर्वार्थ सिद्धि में जन्म होता है। जहाँ कि ३३ सागर की स्थिति होती है। यह सब उत्कृष्ट उपपाद की बात कही गई है, जघन्य उपपाद सभी का प्रथम और द्वितीय स्वर्ग में होता है। स्नातक का उपपाद ही नहीं होता। वह तो केवल ज्ञानी पुरुष है, इसका निर्वाण ही होता है।

संयम स्थानों की दृष्टि से साधुओं में अन्तर बताते हुए संवर निर्जरा प्ररूपक अध्याय की समाप्ति का संकेत—अब स्थान की अपेक्षा इन पाँचों के भेद कहते हैं। स्थान के मायने है सयमों की डिग्रियां। कौन कितना विशेष संयम में है, उनके विभाग संयम स्थान से जाने जाते हैं। पुलाक और कषाय कुशील के सर्व जघन्य लब्धि स्थान होते हैं। वह आगे उन स्थानों में बढ़ता है तो असंख्यात स्थान तक पहुँचता है। उसके बाद वह पुलाक नहीं रहता। अब आगे और असंख्यात स्थानों तक कषाय कुशील चलते हैं। कषाय कुशील, प्रतिसेवनाकुशील और वकुश मुनि ये सभी असंख्यात स्थानों तक बढ़ते हैं। फिर वहाँ वकुश मुनि नहीं रहते, अर्थात इनका पद और बढ़ जाता है। और आगे असंख्यात स्थानों तक ये कषाय कुशील और प्रतिसेवनाकुशील जाते हैं। फिर आगे प्रतिसेवना कुशील नहीं रहता है इसका पद और बढ़ जाता है, तब आगे गमन है। इसके आगे असंख्यात स्थानों में कषायकुशील चलता है। उसके ऊपर कषाय कुशील नहीं मिलता। इसके आगे संयम स्थान, निर्ग्रन्थ मुनि के चलता है। यह निर्ग्रन्थ आगे असंख्यात स्थानों तक जाता है आगे नहीं। इसके ऊपर एक स्थान जाकर वह निर्ग्रन्थ स्नातक बनता है और वह निर्वाण को प्राप्त होता है। इस प्रकार इन मुनियों में संयमलब्धि अनन्त गुणी कही गई है। और, इन अन्तरों से पुलाक आदिक में यह भेद समझा जाता है कि किसका संयम अधिक है, किसका संयम उससे भी और अधिक है। इस प्रकार सम्वर और निर्जरा की सिद्धि करने वाले मुख्य ध्यानी मुनि की बात कही गई है, क्योंकि इस अध्याय में सम्वर और निर्जरा की ही चर्चा की गई थी। सो इस प्रकार पूर्ण सम्वर, पूर्ण निर्जरा पाकर निर्ग्रन्थ होकर स्नातक बनकर यह निर्वाण को प्राप्त होता है। इसी नवम अध्याय में क्रम प्राप्त संवर तत्व के वर्णन के साथ ही निर्जरा तत्व का वर्णन कर दिया है इसका यह है कि जो हेतु संवर के हैं वे ही हेतु प्रायः निर्जरा के हैं। अतः संवर के साथ निर्जरा तत्व का वर्णन किया है। अब क्रम प्राप्त मोक्ष तत्व का वर्णन करेंगे।